एम.एच.डी.-6

हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका और आदिकाल

1

''शिक्षा मानव को बन्धनों से मुक्त करती है और आज के युग में तो यह लोकतंत्र की भावना का आधार भी है। जन्म तथा अन्य कारणों से उत्पन्न जाति एवं वर्गगत विषमताओं को दूर करते हुए मनुष्य को इन सबसे ऊपर उठाती है।''

— इन्दिरा गांधी

"Education is a liberating force, and in our age it is also a democratising force, cutting across the barriers of caste and class, smoothing out inequalities imposed by birth and other circumstances."

– Indira Gandhi

इंदिरा गांधी
राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

एम.एच.डी. - 6
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास

खंड

1

हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका और आदिकाल

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

इकाई लेखक	इकाई संख्या
श्री संजीव कुमार परामर्शदाता इं.गा.रा.मु.वि.वि. नई दिल्ली	1, 3, 4
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग इं.गा.रा.मु.वि.वि. नई दिल्ली	2

संपादक
प्रो. निर्मला जैन
भूतपूर्व अध्यक्ष
(हिन्दी विभाग)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
इं.गा.रा.मु.वि.वि.

सामग्री निर्माण

प्रो. वी. रा. जगन्नाथन
भूतपूर्व निदेशक, मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

आवरण
श्री पंकज खरे

श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

June.2007(Reprint)

ISBN-81-266-0315-1

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली–110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. जवरीमल्ल पारख, निदेशक मानविकी विद्यापीठ, द्वारा पुन: मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर कम्पोजिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, 5A/177, W.E.A, करोल बाग, नई दिल्ली–5

"Paper used : Agro based environment friendly"

मुद्रक : करन प्रैस, जैड - 41, ओखला फेस - 2, नई दिल्ली -- 110020

पाठ्यक्रम परिचय

किसी भी साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन में इतिहास की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इतिहास की जानकारी के अभाव में साहित्य के क्रमिक विकास को समझा ही नहीं जा सकता। इतिहास की मदद से ही साहित्य की विभिन्न रचनाओं, परंपराओं और प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना संभव हो पाता है।

वस्तुतः साहित्य और समाज के गतिशील संबंध को पहचानने के लिए साहित्येतिहास की आवश्यकता होती है। सामाजिक विकास और ह्रास की प्रक्रिया के साथ लोकजीवन संबद्ध होता है। लोकजीवन के अनुभवों से संवेदना का गठन होता है। लोक संवेदना सामाजिक गठन के साथ परिवर्तित होती है। परंतु साहित्य में यह प्रक्रिया बहुत सीधी और स्पष्ट दिखाई नहीं देती है। उत्पादन के आर्थिक संबंध बदलते ही अचानक साहित्यिक रुझान में परिवर्तन नहीं हो जाता है। साहित्य में यह परिवर्तन धीरे–धीरे होता है। इसलिए साहित्य का रूपगढ़न और भी धीरे से बदलता है। साहित्य के इतिहास के अध्ययन के संदर्भ में समाज की आर्थिक गतिविधियों के साथ–साथ उस युग की विचार प्रणालियों और परिस्थितियों के अंतःसंबंधों का अध्ययन किया जाता है।

हम साहित्येतिहास का अध्ययन विशिष्ट कालखंडों में बाँटकर करते हैं। उस विशिष्ट कालखण्ड को नामकरण और काल विभाजन के आधार पर अलग करते हैं। साहित्य के कुछ अपने अंतर्विरोध हैं जिसके कारण कालखंड के भीतर भी अंतर्विरोध पैदा हो जाते हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि कृष्ण भक्ति साहित्य के अंतर्विरोध ने रीतियुग को जन्म दिया। इसी प्रकार छायावाद युग के अंतर्विरोध ने प्रगतिवाद को जन्म दिया।

साहित्य के इतिहास के अंतर्विरोधों को पहचानना इतिहास विवेचन का अनिवार्य अंग है। वस्तुओं, व्यक्तियों और विचारों की असंगति के अंतर्विरोध को पहचानना और उनका मूल्यांकन करना साहित्येतिहास के अध्ययन के लिए आवश्यक है।

साहित्य के इतिहास अध्ययन के लिए इतिहास दृष्टि की आवश्यकता होती है। इतिहास की दृष्टि के बिना साहित्य का इतिहास अधूरा हो जाता है। इस इतिहास दृष्टि को समकालीन समाज की जागरूक चेतना से प्राप्त कर सकते हैं। समकालीन समाज की वास्तविकता से जागरूक चेतना का गहरा संबंध है। इससे एक अंतर्दृष्टि मिलती है जिससे इतिहास निर्माण की प्रक्रिया पर आप अपना एक विचार बना सकते हैं। इसलिए साहित्य का इतिहास पढ़ कर समकालीन समाज को जानने, समझने और परखने का गहरा बोध विकसित होता है। यह बोध हमारी आलोचनात्मक मानसिकता का निर्माण करता है और हम साहित्य को सामाजिक वास्तविकता के संदर्भ में ग्रहण करते हैं।

हिन्दी साहित्य के प्रारंभ से लेकर अद्यतन के विविध–आयामी विकास की विभिन्न प्रवृत्तियों, रचनाओं, साहित्यधाराओं तथा विशेषताओं को विस्तृत एवं गहन परिप्रेक्ष्य में रखते हुए एम.ए. हिन्दी का पाठ्यक्रम–6 'हिन्दी भाषा एवं साहित्य का इतिहास' आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। इस पाठ्यक्रम में कुल 8 खंड हैं जिनमें 32 इकाइयाँ प्रस्तुत की गई हैं। किसी काल–विशेष के कारण जन सामान्य में हो रहे रुचि–विशेष के संचार और पोषण का लेखा–जोखा प्रस्तुत करते हुए उसके कारण एवं स्रोतों की समीक्षात्मक विवेचना करने वाले लगभग 1000 वर्षों के इस इतिहास को चार प्रमुख कालों में विभक्त किया गया है। आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की इस पूरी यात्रा में आप युग चेतना के नैतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक मूल्यों के बदलाव का तथा प्रवर्तक कवियों एवं काव्यधाराओं से तो परिचित होंगे ही, साथ ही भाषा के इतिहास तथा उसके क्रमिक साहित्यिक विकास का भी अध्ययन करेंगे जिसमें पालि, प्राकृत, अपभ्रंश से लेकर खड़ी बोली साहित्यिक हिन्दी तक की विकास यात्रा की चर्चा है।

प्रस्तुत पाठ्यक्रम का प्रथम खंड 'हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका और आदिकाल' है। इस खंड की पहली इकाई संख्या – 1 'काल विभाजन और नामकरण' है। साहित्य के इतिहास को सही ढंग से समझने के लिए काल विभाजन और नामकरण आवश्यक है। इससे इतिहास में एक प्रकार की व्यवस्था आती है। इस खण्ड की दूसरी, तीसरी और चौथी इकाइयाँ आदिकाल की पृष्ठभूमि और आदिकालीन साहित्य से संबंधित हैं।

खण्ड 2 'भक्तिकालीन साहित्य' है। इसमें भक्तिकाल की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए भक्तिकालीन चारों काव्य धाराओं (संत काव्य, सूफी काव्य, कृष्ण भक्तिकाव्य, राम भक्तिकाव्य) की परंपरा एवं विकास का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड 3 'रीतिकालीन साहित्य' है। इसमें दो इकाइयाँ हैं। ये दोनों इकाइयाँ रीतिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि, आधार और स्वरूप से संबंधित हैं।

खण्ड 4, 5 एवं 6 में क्रमशः 'आधुनिक साहित्य – I', 'आधुनिक साहित्य – II', तथा ' आधुनिक गद्य' की चर्चा की गई है। इसमें आधुनिक काल की पृष्ठभूमि के साथ– साथ आधुनिक काल के अंतर्गत भारतेन्दु युगीन, द्विवेदी युगीन, छायावादी, उत्तर छायावादी कविता, प्रगतिशील, प्रयोगवादी तथा समकालीन हिन्दी कविता के प्रमुख कवियों, विचारधाराओं एवं विशेषताओं का विवेचन किया गया है। 'आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य' के अन्तर्गत कथा साहित्य, नाट्य साहित्य, आलोचना, निबन्ध तथा अन्य गद्य विधाओं का इतिहास एवं विकास प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड 7 एवं 8 हिन्दी भाषा के इतिहास एवं विकास से संबंधित हैं। इनमें क्रमशः 4– 4 इकाइयाँ हैं।

प्रत्येक खंड के अंतिम पृष्ठ पर उस खंड के विषयों से संबंधित उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है। ये पुस्तकें विषय के विशेष अध्ययन में आपकी सहायक होंगी।

खण्ड परिचय

आपके समक्ष एम.ए. हिन्दी के पाठ्यक्रम–6 (हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास) का पहला खण्ड अध्ययन के लिए प्रस्तुत है। यह खण्ड हिन्दी साहित्य के इतिहास की भूमिका, आदिकाल की पृष्ठभूमि और आदिकालीन साहित्य पर आधारित है। इस खण्ड में चार इकाइयाँ हैं।

खण्ड की पहली इकाई 'काल विभाजन और नामकरण' है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए उसका काल विभाजन और उसके काल खण्डों का नामकरण किया गया। वस्तुतः कालविभाजन से साहित्य के विकास की दिशा, विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों, विभिन्न परिवर्तनों आदि का पता चलता है। सभी युगों की परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ एक जैसी नहीं होतीं, इसीलिए इतिहास को उसकी प्रवृत्तियों के बदलाव के अनुसार अलग–अलग कालों में बाँटना पड़ता है, साथ ही उन कालों या युगों की पहचान के लिए कोई न कोई नाम देना पड़ता है। कालविभाजन और नामकरण किस आधार पर किया जाता है ? अलग–अलग विद्वानों द्वारा किया गया कालविभाजन और नामकरण कहाँ तक उचित है ? इन सभी प्रश्नों पर इस इकाई में विचार किया जाएगा।

इकाई 2 आदिकाल की पृष्ठभूमि पर आधरित है। आदिकाल में साहित्य श्रृंगार, भक्ति, वीर तथा लौकिक, धार्मिक एवं सामाजिक आदि कई प्रवृत्तियाँ एक साथ मिलती हैं। इन सभी प्रवृत्तियों के निर्माण, विकास तथा परिवर्तन–संवर्द्धन में बहुत सी स्थितियों और परिस्थितियों ने तरह–तरह से अपना योगदान दिया है। इस इकाई में आदिकालीन साहित्य को प्रभावित करने वाली इन्हीं परिस्थितियों का परिचय दिया गया है, साथ ही हिन्दी भाषा के विकास की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

इकाई 3 तथा 4 आदिकालीन सिद्ध, नाथ, जैन साहित्य तथा रासो काव्य एवं लौकिक साहित्य पर आधारित हैं। इन इकाइयों में आदिकालीन साहित्य की प्रमृख प्रवृत्तियों के साथ–साथ प्रमुख रचनाओं एवं साहित्य की विशेषताओं का भी परिचय दिया गया है।

खण्ड के अंत में इस खण्ड के विषयों से संबंधित उपयोगी पुस्तकों की सूची दी गई है। ये पुस्तकें विषय में आपकी अधिक जानकारी में सहायक होंगी।

इकाई 1 काल विभाजन नामकरण

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- साहित्य के इतिहास में काल विभाजन और नामकरण की आवश्यकता को समझ सकेंगे;
- काल विभाजन और नामकरण के संदर्भ में आने वाली कठिनाइयों से परिचित हो सकेंगे;
- काल विभाजन और नामकरण के उन आधारों को समझ सकेंगे, जिन आधारों पर साहित्य के इतिहास में काल विभाजन और नामकरण किया जाता है;
- हिन्दी साहित्य में प्रचलित काल विभाजन और नामकरण की चर्चा कर सकेंगे;
- आदिकाल के सीमा निर्धारण और नामकरण संबंधी प्रचलित विवाद को जान सकेंगे;
- भक्तिकाल और रीतिकाल के काल विभाजन और नामकरण के आधार को समझ सकेंगे; और
- आधुनिक काल की संवेदना के विकास को भी आप समझ सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के इतिहास पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब हमारी पहली समस्या होती है कि 1000 वर्षों के इतिहास को कैसे पढ़ा जाय? इसी समस्या को ध्यान में रखकर इतिहास को कालखंडों में विभाजित करते हैं। लेकिन इससे हमारे प्रश्न का समाधान नहीं होता। इसी से जुड़ा एक दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है। साहित्य के इतिहास में काल विभाजन और नामकरण की अनिवार्यता क्या है? इस अनिवार्यता को इतिहास में किन तथ्यों से पुष्ट किया जाता है ? इतिहास का कोई कालखंड या युग इतिहास की तथ्यपूर्ण वास्तविकता को प्रतिबिंबित करता है, अथवा वह इतिहासकार के मन की संकल्पना है। क्या युग की पहचान इतिहासकार की व्याख्या है? इन सारे प्रश्नों का समाधान ढूंढना आवश्यक है। इन प्रश्नों से टकराये बिना इतिहास का सही विभाजन नहीं हो सकता। और उसके बिना हम काल विभाजन के आधारों को नहीं समझ सकते।

1.2 पृष्ठभूमि

यदि युग विभाजन इतिहास की केवल पद्धतिगत अनिवार्यता है तो उसका औचित्य इतिहास बोध की वास्तविकता से ही निर्धारित हो सकता है। इतिहास बोध में एक प्रकार की आलोचनात्मक चेतना होती है। एक ऐसी चेतना जिसका उपयोग हम जीवन और संस्कृति के परीक्षण के लिए करते हैं। जिसकी कसौटी पर साहित्य और समाज के रिश्ते की पहचान की जाती है। साहित्य का इतिहासकार इन रिश्तों में आये परिवर्तन को जितनी तीव्रता से अनुभव करेगा, उसका कालविभाजन उतना ही प्रामाणिक होगा। क्या यही कारण नहीं है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास की ओर बार–बार लौटने की जरूरत होती है। उनके इतिहास की ओर हम इसलिए लौटते हैं क्योंकि उन्होंने अपनी प्रखर आलोचनात्मक दृष्टि से इतिहास बोध को अर्जित किया था। उन्होंने साहित्य के इतिहास को कार्य–कारण के संबंधों की शृंखला में प्राप्त किया था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य के इतिहास' में कालविभाग पर लिखा है–''शिक्षित जनता की जिन–जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो–जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन–जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न–भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल विभाग के बिना साहित्य इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थी, पर ऐसी निर्दिष्ट सारणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिसके अनुसार सुगमता से प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता।'' इस लंबे उद्धरण में शिक्षित जनता जैसे शब्द को छोड़कर शायद ही किसी बात पर ऐतराज जाहिर किया जा सकता है। सारांश यह है कि बिना ठोस इतिहास दृष्टि के सुसंगत काल विभाजन नहीं किया जा सकता और बिना काल विभाग के इतिहास का अध्ययन कठिन है।

साहित्य के इतिहासकार का सबसे महत्वपूर्ण दायित्व यह है कि वह युग के समूचे तंतुजाल के रेशों का, जिसमें साहित्य का यथार्थ और युग का अनुभव एक दूसरे से गुंथा हुआ है, का विश्लेषण स्पष्टता से करे। इसके लिए आवश्यक है, कि जिस युग में इतिहासकार जी रहा है उस युग के समसमायिक प्रश्नों पर उसकी पकड़ गहरी हो। इसके बिना इतिहास दृष्टि निर्मित नहीं होगी और होगी भी तो वह अतीतोन्मुखी होगी। इतिहास दृष्टि की सार्थकता उसके भविष्योन्मुख होने में है। ऐतिहासिक सामाजिक संदर्भों को पहचान कर ही साहित्य के कालखंडों का निर्धारण किया जा सकता है। ऐतिहासिक संदर्भ रचनाओं की जटिलता और विशिष्टता को समझने के आवश्यक उपादान हैं। कुछ विद्वानों की तरफ से यह संकेत अवश्य मिलते रहे हैं कि साहित्य के कालखंड का निर्धारण विशुद्ध साहित्य के मानदंड पर होना चाहिए। यदि इस प्रकार के मानदंड स्वीकार कर भी लिए जाएँ तो क्या ऐसा करना वैज्ञानिक होगा। साहित्य

के मूल्यांकन का एक आधार इतिहास भी होता है। यदि इतिहास को छोड़ देंगे तो मूल्यांकन का दूसरा आधार शास्त्र होगा और शास्त्र प्रायः जीवन और समाज की सजीव चेतना का परीक्षण नहीं करता है। उसमें जड़ता होती है। यही कारण है कि संस्कृत काव्य शास्त्र में साहित्येतिहास की परिपाटी नहीं है।

ऊपर के परिच्छेद में हमने जिस तीसरे प्रश्न को उठाया था कि इतिहास वास्तविक तथ्य है या इतिहासकार के मन की संकल्पना, उस प्रश्न का विवेचन भी अनिवार्य है। वस्तुतः इतिहास तथ्यगत वास्तविकताओं के साथ एक व्याख्या की माँग भी करता है। इसी से हमारे जीवन मूल्य निर्धारित होते हैं। यदि किसी कृति को इतिहासकार ने मूल्यवान माना है, तो क्यों? उसकी व्याख्या में ही इस प्रश्न का जबाव दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल तुलसीदास को महत्वपूर्ण कवि घोषित करते हैं। इस घोषणा के आधार की खोज करते हुए हम पाते हैं, कि तुलसीदास आचार्य शुक्ल के कट्टर मर्यादावाद और नैतिकतावाद पर खरे उतरते हैं। आचार्य शुक्ल तुलसीदास की तरह समाज में अव्यवस्था स्वीकार नहीं करते। इस व्याख्या में ही आचार्य शुक्ल के इतिहास की सीमाएँ सामने आ जाती हैं। तुलसीदास की कृति इतिहास के लिए ऐतिहासिक दस्तावेज हो जाती है और आचार्य शुक्ल उस ऐतिहासिक दस्तावेज का विश्लेषण और मूल्यांकन अपनी इतिहास दृष्टि से करते है। इस मूल्यांकन से इतिहासकार रामचंद्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि की सीमाओं को स्पष्ट किया जा सकता है। तथ्यात्मक वास्तविकताओं की व्याख्या में ही इतिहास दृष्टि की सीमाएँ और संभावनाएँ स्पष्ट हो जाती हैं।

1.3 काल विभाजन की समस्याएँ

काल विभाजन की आवश्यकता पर विचार करने के बाद कालविभाग के आधारों का विवेचन आवश्यक है। एक बात जिस पर आरंभ में ही चर्चा करना अपेक्षित है, वह यह है कि इतिहास या समाजशास्त्र में किसी घटना को आधार बनाकर एक रेखा खींची जा सकती है, उदाहरण के लिए इतिहास में पुनर्जागरण का आरंभ सामान्यतः तुर्को के हाथों कुस्तुनतुनिया की पराजय की तिथि से माना जाता है। लेकिन साहित्य के इतिहासकार को साहित्य के रुझान का रुख पता करने में कठिनाई हो सकती है। क्योंकि साहित्य का रुझान परिवर्तन किसी एक तिथि की घटना नहीं है। यदि प्रवृत्ति को ही आधार बनाएँ तो, ऐसा देखा गया है कि जब साहित्य में एक प्रकार की प्रवृत्ति गतिशील होती है, तो उसके समानांतर कभी–कभी प्रतिरोधी प्रवृत्ति भी गतिशील हो उठती है। इस अन्तर्विरोध के कारण काल विभाजन का पूरा ढाँचा ही चरमरा उठता है। हिंदी साहित्य का ही उदाहरण लें तो आदिकाल का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।

काल विभाजन में दूसरी समस्या संक्रांति काल को लेकर होती है। संक्रमण के जिन बिंदुओं पर इतिहास के दो युगों को तोड़ा जाता है, वहाँ इतिहासधारा की चिन्तनधारा ही नहीं टूटती है बल्कि इस टूटने की प्रक्रिया में बहुत कुछ छूट भी जाता है। क्या यही कारण नहीं है कि आचार्य शुक्ल के इतिहास में संक्रांति काल के बड़े साहित्यकारों को फुटकर खाते में स्थान मिलता है, उदाहरण के लिए विद्यापति, खुसरो और केशवदास का नाम गिनाया जा सकता है। संक्रांतिकाल की वास्तविकता यह होती है कि संक्रांति बिंदु पर खड़े कवि के साहित्य में एक मार्ग पीछे से आता है और दूसरा रास्ता आगे से शुरू होता है। दो प्रवृत्तियों की निरंतर टकराहट उनमें मिलती है। इनमें किस प्रवृत्ति का आगे विकास होता है, इसी को ध्यान में रखा जाना आवश्यक होता है। इसी सूत्र से संक्रांतिकाल की समस्या सुलझती है।

काल विभाजन की कठिनाइयों में एक और कठिनाई का जिक्र होना चाहिए। साहित्य के इतिहास में और राजनैतिक इतिहास में अक्सर समानता नहीं होती। उदाहरण के लिए हमारे

साहित्य का जो आदिकाल है लगभग उसी के आसपास राजनीतिक इतिहास का मध्ययुग शुरू होता है। ऐसी स्थिति में कुछ इतिहासकार आधुनिक काल से पूर्व समूचे साहित्य को मध्ययुगीन साहित्य कहना ही उचित मानते हैं और मध्ययुगीन साहित्य को विभिन्न प्रवृत्तियों में बाँटकर उसका विवेचन करना उचित समझते हैं। वीरकाव्य, नीतिकाव्य, प्रेमाख्यान काव्य आदि के अनुसार साहित्य को इतिहास का ढाँचा बनाते हैं। इस प्रकार के विभाजन से सहमति कठिन है। यदि हम प्रवृत्ति के आधार पर विभाजन करते हैं तो कार्यकारण संबंधों को भी दिखाना चाहिए। दूसरा प्रश्न यह है कि इस प्रकार का विभाजन परवर्ती साहित्यकारों में कितना अधिक स्वीकृत हुआ। यदि इस प्रकार के विश्लेषण को स्वीकृति नहीं मिली तो यह माना जाना चाहिए कि इतिहास ने उनको स्वीकार नहीं किया।

भारतीय हिंदी परिषद से हिंदी साहित्य का जो द्वितीय खंड प्रकाशित हुआ उसमें आदि, मध्य और आधुनिक तीनों कालों को तोड़कर 'प्राचीन' एवं 'आधुनिक' केवल दो कालों में उन्हें ग्रहण किया गया है। इस प्रकार के काल विभाजन में इतिहास की परिपक्व दृष्टि का स्पष्ट अभाव मिलता है। उसमें राजनैतिक इतिहास के स्थूल प्रतिमानों को आधार बनाया गया है। काल–विभाजन के मुख्य उपकरण, संवेदना, को पहचानने की क्षमता है। संवेदना को पहचान कर हम इतिहास की रचना करते हैं। शुक्लोत्तर इतिहास लेखन में इस बात को नजरअंदाज कर दिया गया है। इससे साहित्य के इतिहास को समझने में बाधा पड़ी है। इन इतिहासों के प्रस्तावित काल खंड से जो चित्र प्राप्त हुए हैं उसका स्वरूप ही खंडित है। उसमें इतिहास की समग्रता का प्रमाण नहीं मिलता है। नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने "हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास" के लिए जो प्रारूप बनाया है वह आचार्य शुक्ल के इतिहास को आधार में रखकर बनाया गया है। यह उचित भी है, क्योंकि नये इतिहास को बनाने के लिए अत्यंत व्यापक दृष्टि की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि के अभाव में एक प्रामाणिक इतिहास के ढाँचे को अपनाना ही बेहतर है।

1.4 काल विभाजन के आधार

साहित्येतिहास में प्रवृत्तियों के परिवर्तन को आधार बनाकर काल विभाजन की परिपाटी पुरानी है। यह परिपाटी पुरानी होने पर भी सार्थक है। इससे हम उन उलझनों से बच जाते हैं, जिससे काल विभाजन के निर्णय में अराजकता की संभावना होती है। साहित्य की अन्तःप्रकृति की एकता को समझने पर ही कालविभाग को संयोजित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हिंदी साहित्य के आदिकाल में धार्मिक, श्रृंगारिक और वीरगाथात्मक साहित्य का सृजन हुआ है। इन काव्यों की रचना प्रकृति की अन्तःधारा को समझकर उसे एक–दूसरे से अलग कर सकते हैं। काल की अन्तःप्रकृति को समझने में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि की जरूरत होती है नहीं तो, कोई बड़ी ऐतिहासिक भूल हो सकती है। इस सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा हम युग की मनोभूमि और उसके समाज के मन को परखकर उसे दूसरे युग के समाज के मन तथा उसकी मनोभूमि से अलग किया जा सकता है। भक्तिकाल से रीतिकाल तक आते–आते किस प्रकार से मनोभूमि का परिवर्तन हो चुका था, इसका विश्लेषण करने के लिए गहराई से समझने की आवश्यकता है। भक्तिकालीन कविता में प्रेम की आध्यात्मिक अनुभूति रीति कविता में स्थूल श्रृंगार में बदल जाती है। इस प्रकार के संधि–बिन्दु को पहचानने के बाद ही युग विभाजन को एक प्रामाणिक आधार मिलता है। साहित्य के काल निर्णय में जनता के रुचि संस्कार पर भी पर्याप्त चर्चा अपेक्षित है। युग परिवर्तन में निर्णायक भूमिका जनरुचि की होती है। साहित्यकार समाज का अंग होने के नाते उसे अनुभव ही नहीं करता है, उसको अभिव्यंजित भी करता है। जनरुचि नये सर्जनात्मक अंकुर के लिए उर्वर भूमि तैयार करती है। इसलिए जनता की अभिरुचि और साहित्यिक परिवर्तन के संबंधों की वास्तविकता को मानवीय आयाम से देखना उचित है। स्वयं आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है "जनता की चित्तवृति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा

धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।" जनता की अभिरुचि किस प्रकार से एक विधा के स्थान पर दूसरी विधा को प्रतिष्ठित करती है, इसे हम भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की तुलना में देख सकते हैं। भारतेंदु युग में नाटकों के महत्व का मूल कारण जनरुचि ही थी। लेकिन उपन्यासों की बढ़ती लोकप्रियता के कारण नाटक का ह्रास हुआ और उपन्यास एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार से हम देखते हैं कि विधाओं की दृष्टि से दो युग में अंतर हो जाता है। यदि द्विवेदी युगीन साहित्य में उपन्यास का महत्व बढ़ रहा था तो वह इसलिए कि जीवन की जटिलता को नाटक में अभिव्यक्त कर पाना संभव नहीं हो पा रहा था। काल निर्णय के लिए साहित्य के अतिरिक्त जनता के जीवन के मर्म को टटोलना होता है। कभी–कभी साहित्य में ऐसी दुर्घटना होती है कि लोक–रुचि और सत्ता की रुचि में अंतर हो जाता है। रीतिकाल इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। आश्रयदाताओं की रुचि की ओर ध्यान देकर साहित्य में एक विशेष भाव बोध विकसित हो गया। आचार्य शुक्ल के शब्दों में– "शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" इसलिए इतिहास के कालनिर्णय में लोकरुचि को पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।

1.5 नामकरण के आधार

काल विभाग और नामकरण दो अलग–अलग प्रश्न नहीं है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। जिन मुद्दों को ध्यान में रखकर काल विभाजन का निर्णय लिया जाता है, उन्हीं को ध्यान में रखकर उनका नामकरण भी किया जाता है। जिस तरह से रचना की प्रवृत्ति काल विभाजन का आधार रही है, उसी तरह वह नामकरण का भी एक महत्वपूर्ण आधार रही है। रचना प्रवृत्ति के आधार पर नामकरण हिंदी की एक सर्वमान्य परंपरा रही है। रचना की अन्तर्वस्तु की केन्द्रीयता को ध्यान में रख कालखंड को नामांकित कर दिया जाता है। इस प्रकार के नामकरण का आधार रचनाओं की बहुलता से जुड़ा है। रचनाओं की बहुलता से प्रवृत्ति का औसत निकालकर ठीक लगनेवाले नाम से साहित्यिक कालखंड का नामकरण करने का प्रचलन है। लेकिन इस पद्धति से नामकरण में संकट तब पैदा होता है, जब साहित्य में अंतर्विरोध का स्वर मुखर हो जाता है। ऐसी स्थिति में साहित्य की मूलगामी धारा, जो केन्द्रीय प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है, उसके प्रतिरोध में बहने वाली धारा का महत्व उतना ही हो जाता है। एक भिन्न प्रकार की इतिहास दृष्टि से देखें तो इस प्रतिरोध की धारा में जीवन और साहित्य का मूल्यवान तत्व प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए रीतिमुक्त कवियों का काव्य रीतिकाल की मुख्य धारा की प्रवृत्तियों से अलग है। उसमें मानवीय प्रेम और समर्पण का गम्भीर वर्णन मिलता है। इस तरह की वास्तविकता को स्वीकार करना इतिहास की सच्चाइयों को स्वीकार करना है। सामान्यतया इतिहास में इस तरह की रचना प्रवृत्ति को साहित्यिक प्रचुरता के अभाव में अनदेखा किया जाता है।

समाज और हमारे सांस्कृतिक जीवन में कुछ आंदोलन ऐसे होते हैं जिनका प्रभाव जीवन के विविध क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है। इस तरह के आंदोलन को आधार बनाकर कालखंड नामकरण की व्यवस्था साहित्य में है। उदाहरण के लिए स्वच्छंदतावाद अथवा भक्तिकाल जैसे नामों को इसी श्रेणी में रख सकते हैं। भक्तिकाल हमारे इतिहास का मात्र एक साहित्यिक आंदोलन नहीं था। वह एक प्रकार का सांस्कृतिक आंदोलन था। भक्ति की व्यापक चेतना का प्रसार कला और समाज के विविध आयामों में हुआ था। यदि संपूर्णता में देखें तो चित्रकला,

नृत्य और संगीत में भक्ति संवेदना का प्रभाव दिखाई पड़ता है। भक्ति जीवन की विराट अनुभूति का सत्य बन गया था। इस प्रकार के साहित्यिक कालखंडों के नामकरण में विशेष सुविधा होती है। जिसमें प्रवृत्ति मात्र साहित्यिक न होकर जन आंदोलन का रूप हो जाती है। भक्ति काल जैसे नामकरण के अंतर्गत सभी तरह की प्रवृत्तियों को आश्रय मिल जाता है तथा इसमें अंतर्विरोध की सम्भावना भी नहीं होती है।

साहित्य के इतिहास में कभी–कभी ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण हो जाती है कि उसके नाम पर एक युग ही चल पड़ता है। उस व्यक्ति विशेष के नाम पर ही साहित्यिक कालखंड का नाम रख दिया जाता है। उदाहरण के लिए भारतेंदु युग और द्विवेदी युग का नामकरण इसी प्रकार का है। लेकिन इस प्रकार के नाम पर गौर करने वाली बात यह है, कि ये नाम व्यक्तिवाचक नहीं होकर एक विशिष्ट प्रकार के जीवन मूल्यों को सूचित करते हैं। भारतेंदु युग मात्र भारतेंदु के साहित्य को ही नहीं हिंदी के आधुनिक काल खंड की प्रारंभिक मंजिल पर ठहरे सभी साहित्यकारों के साहित्य के सामूहिक जीवनबोध का संदेश देता है। वह हिंदी साहित्य के पुनर्जागरण काल के साहित्य के विशिष्ट मूल्यों को अभिव्यक्त करता है। अंग्रेजी साहित्य में शासकों के नाम पर कई साहित्यिक काल खंडों का नामांकन किया गया है। विक्टोरियन युग या ऐलिजाबेथेन युग जैसे नाम का उदाहरण अंग्रेजी साहित्य में भी मिलता है। विक्टोरियन आधुनिक युग से पूर्व प्रचलित था। विक्टोरियन युग एक विशेष प्रकार की जीवन शैली और साहित्यिक शैली का पर्याय था।

नामकरण का एक आधार घटना को भी माना जाता है। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। भारतीय साहित्य के इतिहास में भी इस घटना को आधार बनाया गया है। 'स्वातंत्र्योत्तर साहित्य' जैसे नाम लोकप्रिय हुए हैं। इस तरह के नामकरण रखने में विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। घटना का साहित्य पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ने की स्थिति में ही ऐसे नामकरण की सार्थकता होती है। वरना यह एक साधारण तरह का नाम होगा जिसका संवेदना से कोई विशेष मतलब नहीं होगा। घटना के आधार पर नामकरण रखने से पूर्व उस घटना के प्रभाव का मूल्यांकन करना होता है।

1.6 हिंदी साहित्य में प्रचलित काल विभाग और नामकरण

हिंदी साहित्य के इतिहास का काल विभाजन और नामकरण साधारणतः आचार्य शुक्ल के इतिहास से ही ग्रहण किया जाता है। आचार्य शुक्ल के नामांकन और सीमांकन की कुछ सीमाएँ भी हैं जिसे यथा स्थान हम स्पष्ट करेंगे।

आदिकाल	(वीरगाथा काल)	: संवत् 1050 से 1375 ई०
पूर्वमध्यकाल	(भक्तिकाल)	: 1375 से 1700 ई०
उत्तरमध्यकाल	(रीतिकाल)	: 1700 से 1900 ई०
आधुनिककाल	(गद्यकाल)	: 1900 से अब तक

अनेक विद्वानों द्वारा आदिकालीन साहित्य के संबंध में आचार्य शुक्ल की मान्यताओं का खंडन किया गया है। जिस अपभ्रंश काव्य को वे परोक्ष रूप में स्वीकार करते हुए भी साहित्य में स्थान नहीं देते हैं, उसी के आधार पर उनकी मान्यता पर प्रश्न उठाया गया है। इसकी चर्चा आदिकाल के प्रसंग में की जायेगी। इसी तरह रीतिकाल के नाम के संबंध में भी कुछ विवाद

है। आधुनिक काल को समान्यतया पच्चीस–पच्चीस वर्षों के विभाजन के साथ हिंदी साहित्य में रखा जाता है। हिंदी साहित्य की कुछ समस्याएँ संक्रांति काल की हैं। जिसे युग संदर्भ के विवेचन में उठाया जायेगा।

1.7 आदिकाल का सीमा निर्धारण

हिंदी साहित्य के आरंभ के विषय पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इस मतभेद का मूल कारण अपभ्रंश भाषा को हिंदी में स्वीकार या बहिष्कृत करने से जुड़ा है। अपभ्रंश हिंदी से पूर्व प्रचलित भाषा थी। उनमें कौन से परिवर्तन किस बिंदु पर आरंभ हुए जिससे धीरे–धीरे हिंदी भाषा का स्वतंत्र विकास हुआ इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। भाषा प्रयोग से भाषा का विकास होता है। भाषा प्रवाहिनी नदी के समान गतिशील है। भाषा की प्रवाह प्रक्रिया में भाषा परिवर्तन को समझने में कठिनाई होती है। वस्तुतः अपभ्रंश जब साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी तब जनभाषा से दूर हट गई थी। अपभ्रंश की जनभाषा से हिंदी का विकास होता है। चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने इसे ही पुरानी हिंदी कहा है। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि उत्तर अपभ्रंश ही पुरानी हिंदी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी का आरंभ 993 ई. से मानते हैं जब अपभ्रंश भाषा घिस–घिस कर एक नई भाषा को विकसित करने में सक्षम हो रही थी। लेकिन हिंदी के आरंभिक रूप का पता उन्हें बौद्ध तांत्रिकों की रचना में मिलता है। उन्होंने लिखा है "अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् 1050) के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिंदी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से लेकर संवत् 1375 तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीर देव के समय के कुछ पीछे तक जा सकता है।"

आचार्य शुक्ल हिंदी का आरंभ तो सिद्धों की रचनाओं से स्वीकार करते हैं लेकिन वास्तविक हिंदी का प्रारंभ वे 993 ई. यानी दसवीं शताब्दी से मानते हैं। इसमें साहित्यिक तथ्य और उनकी विचारधारा का संघर्ष स्पष्ट दिखायी देता है। अनुभव और प्रयोग के धरातल पर भाषा का विकास सातवीं सदी से हो चुका था। लेकिन उनका मताग्रह और सिद्धांत की कट्टरता, उन्हें बौद्धतांत्रिक रचनाओं से हिंदी भाषा का विकास मानने से रोकती है। उनमें मर्यादावाद और नैतिकतावाद इस तरह प्रभाव जमाता है, कि वे समाज के दूसरे विकल्प को स्वीकार करने को तैयार ही नहीं होते हैं। आचार्य शुक्ल के इतिहास और आलोचना में यह आग्रह बार–बार दिखाई पड़ता है। आचार्य शुक्ल के इतिहास में नाथ सिद्धों और जैन रचनाकारों की उपेक्षा की गई है। उन्होंने ऐसे साहित्य की कभी धार्मिक साहित्य कहकर उपेक्षा की और कभी वे विशुद्ध साहित्य के नाम पर उनको हाशिए पर रखते रहे। आचार्य शुक्ल ने आगे लिखा है — "आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदांत के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेमवाद तथा वैष्णव के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाए हुए इस रास्ते पर चल पड़ा यह आगे दिखाया जायेगा।" हमारे कहने का मकसद स्पष्ट है कि यदि हम हिंदी व्यवहार को सिद्धों की रचनाओं में पाते हैं तो वहाँ से हिंदी का विकास मानने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। भाषा और अनुभूति दोनों स्तरों पर उस परंपरा का विकास बाद के साहित्य में भी मिलता है। नाथ पंथियों की भाषा पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं "इस प्रकार नाथपंथियों के इन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रजभाषा का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया, जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।" भाषा और साहित्य की इस तथ्यगत वास्तविकता को स्वीकार करने के बाद भी यदि हम उन्हें साहित्य में जगह न दें तो यह हमारे सिद्धांत की कमजोरी है।

किसी भी कालखंड के परिवर्तन में भाषा और संवेदना के कुछ सूत्र मिलते हैं, जिससे हम नये साहित्य के आरंभ की सूचना पाते हैं। अनुभूति के विस्तार और नये प्रयोग से नई भाषा के आविर्भाव को रेखांकित कर सकते हैं। कथ्य के आधार पर नाथ और सिद्धों का मूल्यांकन करने पर हम पाते हैं कि, सिद्धों ने पंडित परंपरा के वर्चस्व को चुनौती दी। जनता की भाषा में साहित्य को रचा जिसका स्वाभाविक विकास भक्तिकाल में हुआ, इसलिए आरंभिक सीमा को थोड़ा पीछे ले जाया जा सकता है। इसका विकल्प आचार्य शुक्ल के इतिहास से भी उभरता दिखाई देता है।

नाथ, सिद्ध और जैन रचनाकारों के साहित्य से हिंदी साहित्य का आरंभ माना जा सकता है। हिंदी भाषा को विशिष्ट बनाने वाली भाषा प्रवृत्तियों का लक्षण इनके साहित्य में मिलता है। भाषा को विशिष्ट बनाने वाली मूलतः तीन भाषा प्रवृत्तियाँ हैं। प्रथम, क्षतिपूरक दीर्घीकरण जैसे प्राकृत अपभ्रंश के 'कम्म' 'कज्ज' जैसे शब्द हिंदी में 'काम' और 'काज' बन गए। दूसरा है, परसर्गों की बहुलता और तीसरा, तत्सम शब्दों का प्रचलन। जैन आचार्यों और कवियों की रचनाएँ मूल रूप में प्रामाणिक और सुरक्षित हैं। उनके अध्ययन से तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति की जो कुछ सूचना मिलती है, वह वास्तविक और विश्वसनीय है। इस दृष्टि से जैन रचनाओं का महत्व बहुत अधिक है। ये हमें लोकभाषा के काव्य रूपों को समझने में सहायता पहुँचाते हैं और साथ ही उस काल की भाषागत अवस्थाओं और प्रवृत्तियों को समझने में मदद भी करते हैं। जैन रचनाकारों के चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती साहित्य की कथानक रूढ़ियों, काव्यरूपों, छंद योजना, वर्णन शैली और वस्तविन्यास को समझने में मदद मिलती है। इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों स्तरों पर जैन साहित्य का महत्व बढ़ जाता है।

आचार्य शुक्ल के बाद दूसरे महत्वपूर्ण इतिहासकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। उन्होंने अपभ्रंश भाषा को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में स्वीकार किया है। लेकिन स्वतंत्र भाषा का महत्व उन्होंने हिंदी के लिए आवश्यक माना है। उन्होंने आदिकालीन भाषा और साहित्य का रूप इतना अधिक मिला जुला पाया कि वास्तविक हिंदी की शुरुआत ही वे भक्ति काल से मानते हैं। वस्तुतः आदिकालीन साहित्य की भाषा में कई तरह के मिश्रित रूप हमें मिलते हैं। सिद्धों की भाषा, नाथों की भाषा, और जैन कवियों की भाषा में क्षेत्रीय विविधता के लोकरंग के साथ भाषा रंगी हुई जान पड़ती है। वे रासो काव्य परंपरा की भाषा में अलग प्रकार की विविधता को देखते हैं। इतनी अधिक मिश्रित संवेदनाओं के बीच यह पहचानने में अवश्य कठिनाई होती है, कि, भाषा कहाँ से शुरू हुई थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के समय को हिंदी साहित्य का आदिकाल मानते हैं। तब मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो जाता है कि फिर अपभ्रंश काव्य पर इतनी विस्तृत चर्चा का उद्देश्य क्या था? अपरोक्ष रूप से आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आदिकाल की प्रारंभिक सीमा को सातवीं सदी में ही स्वीकार करते हैं। उन्हीं के अनुसार इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल जिसे हिंदी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश के ही आगे का रूप है। इसी अपभ्रंश के परवर्ती रूप को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिंदी। इस वक्तव्य को ध्यान पूर्वक पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि बारहवीं शताब्दी से पहले की भाषा अपभ्रंश थी। यही अपभ्रंश भाषा पुरानी हिंदी भी थी। दूसरा उद्धरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ही ग्रंथ 'हिंदी साहित्य उद्भव और विकास' से प्रस्तुत किया जा सकता है। उनका कथन है "सातवीं आठवीं शताब्दी से इन रचनाओं की प्राप्ति होने लगती है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक के काव्य में दो प्रकार के भाव पाये हैं। (1) सिद्धों की वाणी और (2) सामन्तों की स्तुति। इसलिए उन्होंने उस काल को सिद्ध सामंत युग कहा है किंतु इस नाम से उन अत्यंत महत्वपूर्ण लौकिक साहित्य का कुछ भी आभास नहीं मिलता जो परवर्ती काव्य में भी व्यापक रूप में प्रकट हुई हैं।" इस पूरे उद्धरण से ऐसा लगता है कि उन्हें सातवीं–आठवीं शताब्दी से साहित्य का उद्भव मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इसलिए सातवीं–आठवीं शताब्दी से हिंदी साहित्य का उद्भव माना जा सकता है। बाद के साहित्यकारों में डॉ. रामकुमार वर्मा तथा राहुल सांकृत्यायन ने भी सातवीं आठवीं शताब्दी से हिंदी का प्रारंभ

माना है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने गुलेरी जी के मत का समर्थन किया है और राहुल सांकृत्यायन ने भी उत्तर अपभ्रंश की रचनाओं को हिंदी की रचना माना है। अतः हिंदी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से स्वीकार किया जा सकता है। यह एक अलग विवाद है कि सरहपा को प्रथम कवि माने या पुष्य को। यदि तत्सम प्रधान भाषा के प्रयोग को हिंदी का मुख्य आधार बनाया जाता है तो सरहपा पहले कवि ठहरते हैं।

हिंदी भाषा के आदिकाल की प्रारंभिक सीमा की तरह अंतिम सीमा भी विवादपूर्ण है। ग्रियर्सन आदिकाल की अंतिम सीमा 1400 ई. तक मानते हैं। मिश्रबंधु आदिकाल की अंतिम सीमा 1529 ई. स्वीकार करते है। रामचंद्र शुक्ल संवेदना के बदलाव के साथ आदिकाल की अंतिम सीमा 1318 ई. स्वीकार करते हैं, परंतु वे विद्यापति को आदिकाल में रखते हैं। विद्यापति संवेदना की दृष्टि से मूलतः इंद्रिय बोध के कवि हैं। उनकी कविता में मानवीय प्रेम और शृंगार की अभिव्यक्ति हुई है। उन्हें भक्तिकाल में नहीं रखा जा सकता है। उनका जीवन बोध प्रेम की अनुभूति से प्रेरित है, लेकिन वे वीर और भक्ति भाव से पूर्ण काव्य की रचना भी करते थे। विद्यापति की कविता का रचनाकाल 1318 ई. के बाद का है। अतः हमें सीमा के सुसंगत विभाजन के लिए काल सीमा को आगे ले जाना होगा। अतः 1400 ई. को आदिकाल की अंतिम सीमा रखा जा सकता है। अमीर खुसरो को भी इस सीमा के अंतर्गत स्थान मिल जाता है। इसलिए आदिकाल की अंतिम सीमा को विद्वानों ने 1400 ई. ही माना है।

1.8 आदिकाल का नामकरण

आदिकाल के कालविभाजन की चर्चा के उपरांत यह आवश्यक है कि हम आदिकाल के नामकरण की भी चर्चा करें। जिन आधारों पर काल विभाजन किया जाता है अंततः उन्हीं आधारों पर नामकरण की समस्या भी हल होती है। आदिकाल की सबसे बड़ी मुश्किल यह है कि उसमें किसी प्रवृत्ति की केन्द्रीय भूमिका नहीं है। किसी भी जीवित साहित्य के विकास में कई प्रकार की मनःस्थितियों और भावों का विकास साथ–साथ होता है। ऐसी स्थिति में चेतना की बहुकेन्द्रीयता का आभास पूरे साहित्य में होता है। इस प्रकार की साहित्यिक परिस्थिति में किसी एक प्रवृत्ति को केन्द्रीय मानकर उसका नामकरण एक प्रकार से नाइंसाफी है। नामकरण पर विवेचना के लिए, उस काल खंड के रचना और परिवेश के जटिल संबंधों को सूक्ष्मता से समझना होगा। उस कालखंड की रचनाओं के भीतर घात–प्रतिघात को सामाजिक ऐतिहासिक संदर्भो में पहचानना होगा।

हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने आदिकाल के संबंध में जो अपनी अवधारणा बनायी है उस पर एक आलोचनात्मक बहस आवश्यक है। हिंदी साहित्य के प्रथम इतिहासकार 'गार्सादत्तासी' के इतिहास में इस प्रकार के साहित्यिक काल खंड का कोई विभाजन नहीं है। स्पष्ट दृष्टिकोण के अभाव में यह इतिहास कवि वृत्त संग्रह ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार ठाकुर शिवसिंह सेंगर के "शिव सरोज" में किसी निश्चित दृष्टिकोण के अभाव में काल विभाजन ठीक से नहीं किया गया है। आचार्य शुक्ल के पूर्ववर्ती इतिहासकारों में जिन दो इतिहासकारों का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है उनमें से एक हैं जार्ज ग्रियर्सन और दूसरे मिश्रबंधु। जार्ज ग्रियर्सन शायद हिंदी साहित्य के पहले इतिहासकार हैं जिन्होंने कालविभाजन और नामकरण की परंपरा की शुरुआत की और इस प्रकार इतिहास की प्रक्रिया का हल्का–सा आभास दिया।

जार्ज ग्रियर्सन ने ऐतिहासिक प्रक्रिया के तहत इस काल का नामकरण "चारणकाल" रखा। वे इस काल की आरंभिक सीमा को 643 ई. मानते हैं। लेकिन वे विभाजन और नामकरण के बीच तालमेल नहीं बिठा पाते। वे जिस समय से साहित्य का आरंभ मानते हैं, हम उस समय में चारणों की प्रवृत्ति को उस प्रकार से उभरते हुए नहीं पाते हैं। वह काल तो नाथों और सिद्धों के

साहित्य सृजन का काल है। उस काल के साहित्य में कुछ हद तक धार्मिक तत्व तो पाये जाते हैं लेकिन चारणों से जुड़े स्तुतिपरक साहित्य का अभाव ही है। जार्ज ग्रियर्सन के नामकरण के पीछे कर्नल टॉड के ग्रंथ ''राजस्थान'' की बड़ी भूमिका है। वस्तुतः चारणों के साहित्य का स्वरूप तो दसवीं शताब्दी के बाद उभरता है। जब समाज में केंद्रीय शासन के ह्रास के बाद स्थानीय शासकों की भूमिका बलवती होती दिखाई पड़ती है। सामंतों के साथ ही साहित्य में चारणों का भी आविर्भाव होता है। काल विभाजन और नामकरण में स्पष्ट तालमेल के अभाव में यह नाम अनुचित लगता है। दूसरे महत्वपूर्ण इतिहासकार 'मिश्रबंधु' हैं। उन्होंने आदिकाल का नाम 'प्रारंभिक काल' रखा था। यह एक सामान्य सा नाम है। उन्होंने नाम की प्रस्तावना के पीछे कोई तर्क नहीं रखा। नामकरण की प्रस्तावना की सार्थकता ही उसके पीछे की तार्किक परिणति में होती है। इस नाम से उस काल के साहित्य के मुख्य मनोभाव और जनरुचि का पता नहीं चलता है। अतः इस नाम को एक सामान्य नाम ही मानना चाहिए।

मिश्रबंधु के पश्चात आचार्य रामचंद्र शुक्ल हिंदी साहित्य के इतिहास क्षितिज पर आते हैं। इनके साथ ही हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन का वास्तविक युग प्रारंभ होता है। रामचंद्र शुक्ल ने इतिहास का ठोस दर्शन ही नहीं दिया है अपितु वे इतिहास का वास्तविक विवेचन भी करते हैं। उन्होंने इतिहास का मात्र साहित्यकार और कृतियों के संदर्भ में विश्लेषण ही नहीं किया बल्कि इतिहास को ठोस सामाजिक वास्तविकता के रूप में भी स्वीकारा है। उन्होंने काल खंड के पीछे सक्रिय ऐतिहासिक सामाजिक वास्तविकता को आधार बनाकर काल खंड का नामकरण किया। यदि उन्होंने साहित्य के प्रथम काल को ''वीरगाथा काल'' कहा है, तो उसके पीछे उनकी एक स्पष्ट विचारधारा है, चाहे विवादास्पद ही क्यों न हो।

हिंदी साहित्य के प्रथम काल का नामकरण करते हुए उन्होंने उसे वीरगाथा काल की संज्ञा दी है। वीरगाथा नामकरण के लिए उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया है कि ''आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है–धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरांत जब मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारंभ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबंध परंपरा 'रासो' के नाम से पाई जाती है, जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने ''वीरगाथा काल'' कहा है।''

इस काल को वीरगाथा काल कहने के पीछे आचार्य शुक्ल के सिद्धांत में मताग्रह दिखाई पड़ता है। आरंभिक साहित्य की विविधतापूर्ण प्रवृत्तियों को छोड़कर वे एक विशिष्ट वर्ग के द्वारा रचे गये साहित्य को अपना आधार बनाते हैं। वे नाथ, सिद्धों और जैनों के साहित्य को छोड़कर साहित्य की संवेदना का विकास देखना चाहते हैं, लेकिन क्या मजबूरी थी कि उन्हें भी अपभ्रंश काव्य के विवेचन के लिए विवश होना पड़ा। वे इन जटिलताओं की ओर ध्यान नहीं देना चाहते। इन जटिलताओं की परत को तोड़ने का अर्थ है साहित्य की उन परंपराओं को आत्मसात् करना जो हमारी मुख्य धारा से अलग हैं लेकिन जिन्हें हम अपने विवेचन में छोड़ नहीं सकते हैं। काल विभाग के संदर्भ में हमने नाथों और सिद्धों के साहित्य को साहित्य में स्थान न देने के कारण पर चर्चा की है। लेकिन आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि के संदर्भ में थोड़ी चर्चा अपेक्षित है। आचार्य शुक्ल की दृष्टि स्पष्ट है–''उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे संप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।'' यदि विशुद्ध साहित्य को आधार बनाया गया तो हिंदी साहित्य के एक बड़े हिस्से को साहित्य से अलग करना होगा। हमें तुलसीदास, प्रेमचंद

और निराला के साहित्य को भी हिंदी साहित्य से अलग करना होगा क्योंकि इनकी रचनाएँ भी शुद्ध साहित्य की सीमाओं में नहीं आती हैं। यदि इन रचनाकारों को निकाला जा सकता है तो निस्संदेह उन नाथों और सिद्धों की रचनाओं से भी विमुख होना पड़ेगा। यदि नहीं निकाला जा सकता तो यह दृष्टि की सीमा है।

इस संदर्भ में हमें यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि जब कुछ नया घटित होता है या नया रचा जाता है तो स्थापित से विरोध होना स्वाभाविक है। इसलिए विरोध होने मात्र से उसे साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता है। उन रचनाकारों ने समाज के सामने एक दूसरा विकल्प रखा। जहाँ तक सांप्रादायिकता की बात है। उसके संबंध में केवल इतना ही कहना है कि उस कसौटी पर समूचा भक्तिकाल सांप्रदायिक हो उठेगा। जहाँ तक जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों का सवाल है जैन धार्मिक काव्यों में जीवन की गहरी मनोदशा का चित्रण है। उन्हें साहित्य में स्थान दिया जा सकता है। अपभ्रंश की इन रचनाओं को यदि आचार्य शुक्ल साहित्य में स्थान नहीं देना चाहते हैं तो उसका एक कारण है, वस्तुतः उसमें विभिन्न प्रवृत्तियों का कोलाहल सुनाई पड़ता है। इस तरह के साहित्य में हिंदी साहित्य की आदिम संवेदना अपने अनगढ़ रूपों में अपना रास्ता टटोल रही थी। जीवन के विविध अनुभवों को ग्रहण कर रही थी, इसलिए किसी एक विशिष्ट प्रवृत्ति में हम उसे बँधी हुई नहीं पाते हैं ।

आचार्य शुक्ल ने जिन बारह ग्रंथों के आधार पर आदिकाल का नामकरण किया है। उनकी चर्चा यहाँ आवश्यक होगी। शुक्लजी काव्यग्रंथों की तालिका इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं:

1. विजयपाल रासो
2. खुम्माण रासो
3. बीसलदेव रासो
4. पृथ्वीराज़ रासो
5. जयचंद प्रकाश
6. जयमयंक जस चंद्रिका
7. हम्मीर रासो
8. परमाल रासो
9. विद्यापति की पदावली
10. कीर्तिलता
11. कीर्तिपताका
12. अमीर खुसरों की मुकरियाँ

इन्हीं बारह पुस्तकों को आधार बनाकर आचार्य शुक्ल ने इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा है। इन पुस्तकों को इतिहास की सामग्री बनाते हुए इतिहासकार में संकोच और झिझक है क्योंकि इन ग्रंथों की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह लगा हुआ था। स्वयं आचार्य शुक्ल ने लिखा है ''दूसरी बात इस आदिकाल के संबंध में ध्यान देने की यह है कि इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है।'' आचार्य ने जिन पुस्तकों को आधार बनाया था उसकी संदिग्धता इतनी बढ़ गई है कि उनके द्वारा किये गए नामकरण की नींव हिलती दिखाई दे रही है। इन पुस्तकों की प्रामाणिकता का संक्षिप्त विवेचन करना आवश्यक होगा। इन बारह पुस्तकों में विद्यापति रचित ''कीर्तिलता'', 'पदावली' तथा नरपति नाल्ह रचित 'बीसलदेव रासो' ही प्रामाणिक रूप में उपलब्ध हैं। ''हम्मीर रासो'' ''जयचंद प्रकाश'' और ''जयमंयक जस चंद्रिका'' उपलब्ध नहीं है। हम्मीर विषयक एक पद्य 'प्राकृत पैंगलम' में अवश्य मिलता है, जिसके बारे में शुक्ल जी का विश्वास है कि वह हम्मीर

रासो का ही है। इस तरह के छिट–पुट प्रमाण पर इतिहास का ढाँचा खड़ा करना मुश्किल है। खुम्माण रासो में 9वीं शताब्दी के खुम्मान के युद्ध का वर्णन है। लेकिन उसमें मेवाड़ के परवर्ती शासकों जैसे महाराणा प्रतापसिंह और राजसिंह का भी वर्णन है। इससे इन बात का पता मिलता है कि यह रचना 16वीं शती के आस–पास की है। 'परमाल रासो' लोकगान है। वह विभिन्न क्षेत्रों में विविध रूपों में गाया जाता है। जयानक के "पृथ्वीराज विजय" के प्रकाशन के साथ "पृथ्वीराज रासो" की प्रामाणिकता भी संदिग्ध हो गई है। स्वयं आचार्य शुक्ल ने लिखा है" इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।" जब इन ग्रंथों की प्रामाणिकता ही संदिग्ध है तो उसके आधार पर किया गया नामकरण कितना असंदिग्ध हो सकता है, यह सोचने की बात है। राजस्थान के साहित्य और संस्कृति के विद्वान मोतीलाल मेनारिया ने लिखा है "जिसके आधार पर वीरगाथा काल की कल्पना की गई है, राजस्थान के किसी समय विशेष की साहित्यिक प्रवृत्ति को सूचित नहीं करते। केवल चारण भाट आदि वर्ग के कुछ लोगों की जन्मजात मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं।" जिस रासो ग्रंथ की प्रबंध परंपरा को लक्ष्य करके आचार्य शुक्ल ने वीरगाथा काल नाम दिया उनमें विद्यापति की रचना का प्रवेश नहीं हो पाता है। यह ठीक है कि "कीर्तिलता" और "कीर्तिपताका" इसी कोटि के ग्रंथ हैं। परंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि मैथिल कोकिल विद्यापति का महत्व उनकी पदावली को लेकर है। जिसमें शृंगार की ऐहिकता और भक्ति की धार्मिकता है। मानवीय मनोभाव की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का सामंजस्य उनमें मिलता है। नाकरण संबंधी सारे तथ्यों पर विवेचन के बाद वीरगाथा काल की प्रासंगिकता क्या है? यह सोचने की आवश्यकता है।

आचार्य शुक्ल के "वीरगाथा काल" संबंधी मान्यताओं के परीक्षण के उपरांत उनके बाद के इतिहासकारों की मान्यताओं पर विवेचन करना अनिवार्य है। आचार्य शुक्ल के बाद इतिहासकारों में डा. रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक "हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास" में एक नाम सुझाया है। उन्होंने प्रथम काल का नाम "संधिकाल और चारण काल" रखा है। उनका नाम दो भागों में विभाजित है। इस प्रकार के नाम के पीछे चिंतन का जो आधार है वह दो भागों में टूटता दिखाई देता है। यह चिंतन भाषा और संवेदना के दो स्तरों पर भी विभाजित है। "संधि" भाषा की अवस्था को सूचित करती है और चारण संवेदनागत वास्तविकता है। उनके संधि कहने का तात्पर्य प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी की मिलीजुली भाषा से है, जो उस समय विकसित हो रही थी। चारण कवियों की कृतियों को ध्यान में रखकर उन्होंने चारणकाल नाम प्रस्तावित किया। परंतु मात्र चारणों ने ही उस काल के साहित्य को निर्मित नहीं किया था। उसमें जैन, नाथों, सिद्धों और लौकिक साहित्य के रचयिताओं का योगदान भी है। इस नामकरण को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो उन अनेक कवियों और साहित्यकारों को प्रतिनिधित्व नहीं मिलता जिनका इस काल के साहित्य निर्माण में बड़ा योगदान है। इस नाम से साहित्य की सामूहिक मनःस्थिति को प्रतिनिधित्व नहीं मिलता है। स्पष्ट मौलिकता और नवीनता के अभाव में इस नामकरण का ऊपरी हिस्सा ही कमजोर हो गया है।

रामकुमार वर्मा के इतिहास के उपरांत राहुल सांकृत्यायन इस काल का विस्तृत विश्लेषण अपनी पुस्तक "मध्यकालीन काव्यधारा" में करते हैं। राहुल सांकृत्यायन प्रथम काल के लिए "सिद्ध सामंत काल" नाम प्रस्तावित करते हैं। इस नामकरण के माध्यम से वे तत्कालीन समाज की वास्तविकता और जीवन के अनुभव को गहराई में पकड़ने की कोशिश करते हैं, लेकिन चिंतन में यहाँ भी एक फाँक है जो नामकरण के दो अलग–अलग हिस्सों में प्रस्तावित होती है। राहुल जी जब सिद्ध और सामंत नाम प्रस्तावित करते हैं तो उनका परिप्रेक्ष्य और संदर्भ अधिक खुला हुआ और विस्तृत दिखाई पड़ता है। सिद्धियाँ मात्र बौद्धों की साधना का विषय नहीं है। सिद्धियाँ धार्मिक रचनाओं की एक मुख्य प्रवृत्ति बन जाती है। उनके अनुसार सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा की विषय थीं, जिस प्रकार परवर्ती काल में भक्ति प्रेरणा का प्रमुख आधार बनी थी। सिद्धियों को हम एक प्रकार से प्रोटेस्ट कह सकते हैं। यह प्रतिरोध वर्णवाद और

व्यवस्था के संदर्भ में तत्कालीन समाज में उपजा था। इसलिए उनकी रचना में उन असंख्य लोक समूहों की वाणी है जिन्हें व्यवस्था ने हमेशा हाशिए पर रखा था। यही कारण है कि उनका साहित्य अनगढ़ है। उसमें अभिजात साहित्य का सौन्दर्य हमें नहीं मिलता है।

सिद्ध के अतिरिक्त इस काल के नामकरण में राहुल जी एक शब्द 'सामंत' को जोड़ते हैं। सामंत तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था को सूचित करते हैं। हम वीरगाथा काल, चारण काल, आदि जितने भी नामकरण की सूची पाते हैं उसके मूल में सामंतवादी व्यवस्था की छाया ही दिखाई पड़ती है। केंद्रीय व्यवस्था के विखंडन से सामंतों का वर्ग तेजी से राजनैतिक परिदृश्य में उभरता है। वह धीरे–धीरे जीवन व्यवस्था और संस्कृति को आच्छादित कर लेता है। यह नाम साहित्य और राजनीति की संपूर्ण प्रवृत्ति को गहराई में जाकर पकड़ता है। सामंत, कवियों के प्रधान आश्रयदाता ही नहीं, उनके काव्य नायक भी थे। ये कवि उन्हीं को केन्द्र में रखकर कविता की रचना करते थे। उनकी रचनाओं में श्रृंगार और वीर के मिश्रित मनोभाव हैं, जो सामंती साहित्य का एक प्रमुख लक्षण है। लेकिन राहुलजी द्वारा दिया नाम विद्वानों में लोकप्रिय नहीं हुआ। नामकरण के लिए यह भी आवश्यक है कि उसके बारे में व्यापक सहमति हो। किसी भी नामकरण पर विद्वानों में सहमति के उपरांत ही उसकी सार्थकता सिद्ध होती है।

हिंदी साहित्य के प्रथम काल को आदिकाल भी कहा जाता है। यद्यपि इसकी प्रस्तावना आचार्य शुक्ल के इतिहास में भी मिलती है, लेकिन उन्होंने आदि शब्द को काल तक ही सीमित रखा था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रवृत्ति के रूप में आदि शब्द को स्वीकार करते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी साहित्य का उद्‌भव और विकास' में लिखा है "कुछ आलोचकों को इस काल का नाम आदिकाल ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इस पुस्तक में भी इस काल को इसी नाम से कहा गया है। इस नाम से एक भ्रामक धारणा की सृष्टि होती है।... यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहें तो यह नाम बुरा नहीं है।" आदिकाल से साहित्य की आदिम प्रवृत्ति का बोध होता है। वह भाषा की आदिम अवस्था हो सकती है और वह संवेदना की भी आदिम अवस्था हो सकती है। आदिकाल में वीर, श्रृंगार और भक्ति जैसी कई मनोवृत्तियों के साहित्य रचे गए थे। जिस काल में इतनी तरह की मनोवृत्तियाँ सक्रिय हों उस काल के लिए एक नाम खोज पाना निस्संदेह कठिन है। आदिकाल नाम में परस्पर विरोधी चेतना के साहित्य को भी बिना किसी उलझन के स्थान दिया जा सकता है। आदिकाल नामकरण से विविध मनोभावों की रचनाओं को एक साथ रखने पर कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। साहित्यिक वैविध्य को भी एक आधार मिल जाता है। इसी कारण यह नाम विद्वानों में अधिक लोकप्रिय हुआ।

द्विवेदी जी द्वारा दिए गए नाम 'आदिकाल' को यदि व्यापक स्वीकृति मिली तो इसलिए कि वे अपने नामकरण में जनता के उस सामूहिक मन को पकड़ते हैं, जिससे साहित्य की प्रवृत्ति निर्धारित होती है। इस सामूहिक मनःस्थिति को पाने के लिए व्यापक पृष्ठभूमि को स्वीकार करना होता है। द्विवेदी जी ने व्यापक चेतना से इतिहास के अन्तर्विरोधों को देखा है। इसलिए उनकी दृष्टि उन बिंदुओं की ओर गई है जिसे अब तक इतिहासकार अनदेखा कर रहे थे। उन्होंने उसे निचोड़ने की कोशिश की है। उनके नामकरण में दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने साहित्य के विराट प्रवाह में अन्तर्वस्तु का मूल्यांकन किया है।

1.9 भक्ति काल : काल विभाजन और नामकरण

सृजन की दृष्टि से हिंदी साहित्य का पूर्व मध्यकाल जिसे भक्ति काल कहा जाता है अत्यधिक वैभवशाली युग है। जार्ज ग्रियर्सन 1400 ई. से ही भक्ति काव्य की शुरुआत मानते हैं। अतः भक्तिकाल की आरंभिक सीमा 1400 ई. से मानना उचित प्रतीत होता है। भक्तिकाल की

अंतिम सीमा के निर्धारण में थोड़ा विवाद है। विवाद के कारण केशवदास हैं। केशवदास भक्तिकाल के कवि हैं या रीतिकाल के, विवाद का यही बिंदु है। केशवदास का रचनाकाल (1555–1617 ई.) है। रचनाकाल की दृष्टि से केशव भक्तिकाल में आते हैं। लेकिन उनकी रचना शैली और साहित्यिक चेतना का स्वर रीतिवादी है। यहीं यह प्रश्न उठता है कि भक्तिकाल का रूपांतरण किस प्रकार से रीतिकाल में हुआ। भक्ति में प्रेम और समर्पण मुख्य भाव थे। भक्ति का प्रेम तिरोहित होकर स्थूल शृंगार का विषय हो गया, और उसमें समर्पण के स्थान पर उपभोग की प्रधानता हो गई। तब भक्ति की संवेदना अवरुद्ध हो गई और रीतिवाद का विकास आरंभ हुआ। शृंगार की आध्यात्मिक अनुभूति के मानवीय अनुभूति बनने में तत्कालीन सामंतों की रुचि ने व्यापक योगदान दिया। वह वास्तविक लौकिक शृंगार कम बना कुछ लोगों के मनोरंजन का साधन अधिक बना।

जहाँ तक केशव का सवाल है, केशव के पचास वर्ष बाद रीतिकाल की अखंड धारा प्रवाहित होती है। लेकिन साहित्यिक मनोवृत्ति और रचना की भावधारा का मिजाज पहले ही बदल चुका था। उस बदले हुए मिजाज की अभिव्यक्ति को केशव की रचना में आसानी से पहचाना जा सकता है।

"रामचंद्रिका" के साथ उन्होंने "कविप्रिया" और "रसिकप्रिया" को भी रचा था। वस्तुतः केशव भक्ति के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त होकर रीति के चमत्कार क्षेत्र की ओर अग्रसर हो रहे थे। केशव के साहित्य और जीवन के जो मूल्य सामने आते हैं, वे निःसंदेह रीतिकाल के जीवन मूल्य हैं। केशवदास की रचनाओं में छंदों की विविधता, अलंकारों की बहुलता एवं चमत्कार प्रियता अधिक है। यह रीतिकाल की मुख्य विशेषता है। रीतिकालीन साहित्य के जो आधार हैं, जैसे लक्षण ग्रंथ का निर्माण, दरबारी संस्कृति का गुणगान और आश्रयदाता की प्रशंसा, ये सभी बातें केशव के साहित्य में मिलती हैं। भक्ति काल का शायद ही कोई कवि हो जिसने आश्रयदाता की छत्रछाया को स्वीकार किया हो। केशव ने राजाश्रय में कविता को रचा था। इसलिए केशव को संक्रांति काल का कवि मानते हुए भी उन्हें रीतिकाल में ही रखा जा सकता है और भक्ति काल की अंतिम सीमा को 1643 ई. स्वीकार करना उचित होगा। आचार्य शुक्ल द्वारा खींची गई वह सीमा रेखा हिंदी साहित्य में मान्य हो चली है।

भक्तिकाल के नामकरण के संबंध में कोई विवाद नहीं है। लगभग सभी साहित्येतिहासकारों ने एकमत से इस नाम का समर्थन किया है। भक्ति तत्कालीन साहित्य का आंतरिक भाव है। भक्ति के प्रकार में भिन्नता मिलती है। लेकिन भक्ति साहित्य की अन्तरिक चेतना में कोई विरोध नहीं मिलता है। भक्ति कहाँ तक धर्म और अध्यात्म का विषय है तथा कहाँ इसमें मानवीय गरिमा है, इस पर थोड़ी चर्चा आवश्यक है। भक्तिकाव्य का जो सबसे महत्वपूर्ण पहलू है वह यह है, कि यदि भक्तिकाव्य की धार्मिक और अध्यात्मिक अनुभूतियों को छोड़ भी दिया जाए, तो भी उसमें मानवीय संवेदना की शीतल छाया मौजूद है। भक्तिकाव्य ने जीवन के प्रश्न को कविता का प्रश्न बनाया है। इसलिए वह दबे स्वर में व्यवस्था को चुनौती देता है। समाज के लिए एक विकल्प की तलाश करता है। उस साहित्य में क्रांति और विद्रोह की चेतना है। भक्ति साहित्य कालजयी इसीलिए है कि उसने जीवन की जटिलताओं को काव्य के उद्देश्य के रूप में प्रस्तावित किया।

भक्तिकाल में जीवन मूल्यों को केन्द्र में रखकर भिन्न–भिन्न प्रकार की भक्ति की उपधाराएँ फूटती रही हैं। वैचारिक रेखाओं में भिन्नता के आधार पर उनका अलग पथ बनता गया है। कालविभाजन और नामकरण के लिए इन उपविभाजनों को भी समझना आवश्यक होगा। भक्तिकाल में जो काव्य सामग्री मिलती है उसके दो विभाजन किए गए हैं— निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति। निर्गुण भक्ति के क्रमशः दो विभाजन किए गए हैं, ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेममार्गी शाखा। सगुण भक्ति के अन्तर्गत रामभक्ति और कृष्ण भक्ति का अलग–अलग विभाजन किया गया है। निर्गुण भक्त कवि लीलावाद और अवतारवाद के आधार पर सगुणभक्त कवियों से

अलग होते हैं। निर्गुण शाखा के कवियों ने लीला और अवतार की परिकल्पना को नहीं माना। उन्होंने निर्गुण और निराकार ईश्वर की उपासना की। फिर ज्ञानाश्रयी शाखा में विद्रोह है। इस धारा के संतों ने वर्ण व्यवस्था की पीड़ा को सहा था। इसलिए उनमें सामाजिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश था। प्रेमाश्रयी धारा के सूफी काव्य में प्रेम की पीड़ा है। उनके काव्य में प्रेम की संवेदना है। सगुण भक्ति के अन्तर्गत रामभक्ति शाखा का साहित्य सामाजिक मर्यादा और लोकमंगल का साहित्य है। इसी प्रकार कृष्ण भक्ति साहित्य ने प्रधानतः लोकरंजन के पक्ष को अपनी कविता का विषय बनाया है। यथार्थ रूप में भक्ति आंदोलन एक जन आंदोलन था।

1.10 रीतिकाल का सीमा निर्धारण

हिंदी साहित्य के इतिहास में उत्तर मध्यकाल की समय सीमा को 1643 ई. से 1843 ई. तक स्वीकार किया गया है। यह कालविभाजन आचार्य शुक्ल ने किया था जिसे बाद के इतिहासकारों ने भी मान्यता दी। साहित्य के इतिहास में कालविभाजन की एक रेखा नहीं खींची जा सकती है। इस बिंदु पर हमने आरंभ में चर्चा की है। भक्तिकाल और रीतिकाल के संधि पर केशवदास खड़े हैं। ऐसी स्थिति में कालविभाजन को प्रामाणिक रूप में एक–दूसरे से अलग करना जटिल है। जटिलता इस अर्थ में है, कि केशव काल की दृष्टि से भक्ति काल में हैं, लेकिन प्रवृत्ति की दृष्टि से वे रीतिकाल के कवि ठहरते हैं। साहित्य में इन परिवर्तनों के रेखांकन में कठिनाई होती है। इसलिए साहित्य के इतिहास में 50 वर्ष तक का समय इधर–उधर हो सकता है क्योंकि प्रवृत्ति निर्माण और नये मनोभाव के बनने में इतना समय लग जाता है। समय–सीमा के निर्धारण में इन अंतर्विरोधों को समझना पड़ेगा, भक्ति और रीति का संपृक्त मनोभाव कब एक दूसरे से अलग होकर अपना पथ तैयार करता है, इसे गणित की सैद्धांतिक अवधारणाओं में ग्रहण नहीं किया जा सकता। युग की मनोभूमि और उसके रुचि परिवर्तन को समग्रता में विश्लेषित करने के उपरांत ही परिदृश्य स्पष्ट होता है।

1.11 रीति काल : नामकरण

उत्तर मध्यकाल के नामकरण से पूर्व उस युग की मनोभूमि किस प्रकार की थी इस पर थोड़ी सी चर्चा करना अनिवार्य है। वस्तुतः हमारे साहित्य का मध्यकाल दो भागों में विभक्त है। भक्तिकाल और रीतिकाल मध्यकाल के दो हिस्से हैं। भक्तिकाल के संदर्भ में हम देख चुके हैं, कि किस प्रकार आध्यात्मिक प्रेम की मिटती हुई छाया ने मानवीय प्रेम को प्रस्तावित किया। प्रेम और भक्ति की अद्वैत अनुभूति के बीच से प्रेम का संबंध शृंगारिक मनोवृत्ति से जुड़ता गया। सामंतों की रुचि ने किस प्रकार से उसे उकसाकर रचनाकारों को उस पर साहित्य रचना के लिए प्रेरित किया। रीतिकाल में साहित्य और दरबारी संस्कृति के बीच बड़ा गहरा संबंध है। इस काल के कवि अपने आश्रयदाता सामंतों के यहाँ रहते थे। उन्हीं के मनोरंजन के लिए साहित्य रचना करते थे।

कवि अब सहज अनुभूति की प्रेरणा से काव्य रचना नहीं करते थे। साहित्य, कवियों के अर्थ प्राप्ति का साधन हो गया था। अर्थ के आधार पर उनका मूल्य निर्णय होता था। अर्थ जब सृजन का आधार हो गया तो कविता में कृत्रिम मनोभाव को भरकर अधिक से अधिक अर्थ कमाने के लिए कवि विवश हो गए। इस स्थिति में रीतिकाव्य में रसिकता और शास्त्रीयता का योग हुआ, जो सामंतों द्वारा पोषित थी और शास्त्र द्वारा रक्षित थी। रीतिकालीन कवियों के मानसिक गठन में किसी प्रकार का कोई द्वंद्व या संघर्ष नहीं मिलता है। उन्होंने जीवन के प्रश्न से अलग हटकर विशुद्ध कला के प्रश्नों को अपने साहित्य की बुनियाद में रखा।

हिंदी साहित्य के "उत्तरमध्यकाल" के नाम को लेकर विद्वानों में विवाद है। इस काल को नामांकित करने के लिए तीन–चार नाम सुझाए गए हैं। सर्वप्रथम मिश्रबंधु ने "मिश्रबंधु विनोद" में इस काल को "अलकृंत काल" कहना अधिक उचित समझा। मिश्रबंधु के बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने व्यवस्थित इतिहास अध्ययन और इतिहास दृष्टि के आधार पर उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल नाम से संबोधित किया। शुक्ल जी के बाद के इतिहासकारों में रामकुमार वर्मा ने उस युग की संवेदना के मूल में कलात्मक गौरव को रेखांकित करते हुए "कलाकाल" की संज्ञा दी, डॉ. रसाल ने इस युग को "काव्यकला काल" कहना अधिक उपयुक्त माना है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस काल को "शृंगार काल" नाम से संबोधित करते हैं।

"अलंकृत काल", "कला काल" जितने भी नाम दिए गए हैं, वे सभी नाम रीतिकाल की अपेक्षा सीमित अर्थ देने वाले हैं। यदि अंलकृत काल कहते हैं, तो इससे मात्र अलंकार का संकेत मिलता है। अलंकृत शब्द युग की कविता का ही विशेषण हो सकता है। वह लक्षण ग्रंथों का विशेषण नहीं हो सकता, जो इस काल में उपलब्ध होते हैं। यह नाम पूरे युग की मानसिक बनावट का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता। कलाकाल से मात्र साहित्यकला का बोध नहीं होता है, उससे कला के विभिन्न रूपों का बोध होता है। इस नाम से कोई साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं उभरती। साहित्य सृजनात्मक कर्म है लेकिन वह कलाकर्म की कोटि तक इस युग में ही पहुँचता है। किन्तु यह नाम उस काल खंड के साहित्य की आंतरिक या बाह्य संवेदना की किसी मूलभूत विशेषता को प्रतिपादित नहीं करता। "काव्य कला काल" एक सामान्य नाम है "कलाकाल" नाम में काव्य को जोड़कर साहित्य और कला की सामूहिक विशेषता की ओर संकेत किया गया है।

मुख्य विवाद "रीतिकाल" और "शृंगार काल" को लेकर है। यह सही है कि आचार्य शुक्ल के मन में इस काल का "रीतिकाल" नामकरण करते हुए भी शृंगार काल का विकल्प उपलब्ध था। उन्होंने लिखा है "वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।" यह सही है कि भक्तिकाल की तुलना में अनुभूति या संवेदना के बदलाव की दृष्टि से शृंगारकाल नाम अधिक उचित प्रतीत होता है। क्योंकि रीतिकाल संवेदना का नहीं संवेदना को अभिव्यंजित करने के माध्यम का संकेत करता है। रीति शब्द से शास्त्रीय अर्थ मार्ग या पद्धति के अतिरिक्त कौशल और रचनात्मक उपादानों एवं काव्य के विभिन्न घटकों का भी बोध होता है। शृंगार में अनुभूति और उसकी प्रवृत्ति का अर्थ संकेत है।

प्रयोग और अर्थविस्तार का प्रश्न साहित्य के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण होता है। रीति शब्द अपने परंपरागत अर्थ मार्ग या प्रस्थान हेतु को बनाये रखते हुए भी काव्य के साथ जुड़कर शृंगार का अर्थ पा गया है। इसीलिए रीतिकाल नाम साहित्य और साहित्य से परे पद्धति, कौशल, शृंगारिकता, नायिका भेद, कलात्मकता आदि के अर्थ में लिया जाता है। सारांश रूप में कह सकते हैं रीतिकाल शब्द में अर्थ का विस्तार हुआ है। यह मात्र शास्त्र का पर्याय न होकर शृंगारिक संवेदना को भी सूचित करता है। रीति शब्द का प्रयोग संस्कृत काव्यशास्त्र में एक विशिष्ट मूल्यांकन पद्धति के लिए हुआ था। हिंदी में रीतिकाल के पूर्व इस शब्द का प्रयोग बहुत कम मिलता है। जगदीश गुप्त के अनुसार रीति शब्द का प्रथम प्रयोग तुलसीदास के पार्वती मंगल में पद्धति के अर्थ में हुआ है। भिखारीदास "काव्य की रीति सिखौ सुकबीन सों" में काव्य सिद्धांत या काव्य रचना के नियम या पद्धति के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। शुक्ल जी ने इस सारे अर्थों को "रीतिकाल" में समाहित कर दिया है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'शृंगार काल' कहने के पीछे यह तर्क दिया है कि रीतिकाल कहने से रीतिमुक्त कवियों की उपेक्षा होती है। रीतिकाल की जो स्वच्छंदतावादी धारा है जिसमें घनानंद, बोधा, आलम और ठाकुर जैसे कवि हैं, रीतिकाल कहने से इन कवियों की रचनाधारा उसमें समाहित नहीं होती। लेकिन शृंगार काल कहने से भी सभी कवियों को उचित

प्रतिनिधित्व नहीं मिलता है। भूषण जैसे वीर रस के कवि और कुछ भक्त कवि फिर भी छूट जाते हैं । इसके अतिरिक्त काव्यांग विवेचन की दृष्टि से लिखित अनेक महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध लक्षण ग्रंथ इसकी सीमा में नहीं आ पाते। काव्यांग विवेचन रीतिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। स्वच्छंदतावादी कवियों का विद्रोह भी इन्हीं लक्षणग्रंथों की परिपाटी के विरुद्ध हुआ था। इसलिए वह युग के केन्द्र में है। लक्षण उदाहरण से युक्त बहुसंख्यक रीति ग्रंथों के निर्माण में आचार्यत्व का प्रदर्शन मूल प्रेरक भाव है। यदि परंपरा और पृष्ठभूमि में भक्तिकाल को देखते हैं तो रीतिकाल ने भक्तिकाल से शास्त्रीय विवेचन की परिपाटी को प्राप्त किया। भक्ति जब शास्त्र का विषय हो गया तब उसी समय से रीति के लक्षण भी साहित्य में मिलने लगे। नंददास द्वारा "रस मंजरी" जैसे नायिका भेद का ग्रंथ लिखा जाना रीतिशब्द की सार्थकता को सिद्ध करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि रीतिकाल शब्द भक्तिकालीन कविता के ढलान को भी सूचित करता है, जब भक्ति अनुभूति का विषय न होकर शास्त्र का विषय हो गई थी। यह बात सच है कि रीति शब्द मानसिक प्रवृत्ति होते हुए भी अनुभूति या संवेदना को प्रतिपादित नहीं करता है। प्रश्न नाम की सार्थकता का नहीं है, उसकी अनेक स्तरीय संवेदना का है, जो रीतिकाल के लिए रूढ़ हो चुका है।

इस पूरे विवेचन के उपरांत हमें दो इतिहासकारों की इतिहास दृष्टि पर चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि एक युग समीक्षक और संस्कृति समीक्षक की दृष्टि है। वे नामकरण के द्वारा पूरे युग और समूची सामंती संस्कृति की विशेषता को एक नाम में बाँधना चाहते हैं। इसीलिए उनके यहाँ शब्दों के अर्थ का विस्तार होता है। रीति मात्र पद्धति का पर्याय नहीं होकर एक युग की सोच और उसके मानसिक ढाँचे को प्रतिपादित करता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, जो आधुनिक युग के रीतिवादी आचार्य हैं, उनके द्वारा प्रस्तावित नाम **श्रृंगार काल** युग संवेदना की दृष्टि से यद्यपि उस काल की प्रधान मनोवृत्ति को व्यक्त करता है लेकिन यह नाम साहित्य की सीमाओं से आगे नहीं जा पाता। रसवादी दृष्टिकोण से आगे नहीं बढ़ पाता। इतिहास में रसवादी मनोभाव को प्रधानता देना आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के इतिहास दृष्टि की सीमा है। आचार्य शुक्ल रीतिकाल के विश्लेषण में साहित्य के साथ उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिस्थिति पर भी विचार करते हैं। उनके द्वारा दिए गए नाम "रीतिकाल" में व्यापक अर्थ की व्यंजना है। जिसमें जीवन और समाज की कई विशिष्टताओं को प्रतिपादित करने की शक्ति है। डॉ. जगदीश गुप्त के शब्दों में कहें तो "कला काल कहने से कवियों की रसिकता की उपेक्षा होती है श्रृंगार काल कहने वीररस और राजप्रशंसा की। रीतिकाल कहने से प्रायः कोई भी महत्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है।"

1.12 आधुनिक काल की पृष्ठभूमि

हिंदी साहित्य के आधुनिक काल पर चर्चा करने से पूर्व आधुनिक काल की पृष्ठभूमि से परिचित होना अनिवार्य है। वस्तुतः योरोप में राष्ट्रीयतावाद की जो क्रांति आरंभ हुई उसका औद्योगिक क्रांति से गहरा संबंध था। इस कारण योरोप में राष्ट्रीयतावाद ने एक आक्रामक रूप लिया जिसकी चरम परिणति उपनिवेशवाद था। दूसरी ओर औद्योगिक क्रांति का इतना ही गहरा संबंध उदार मानवीय दृष्टि से भी था, जिसने मानवीय स्वाधीनता अथवा लिबरल दर्शनों को प्रेरित किया। औद्योगिक क्रांति के माध्यम से केवल उपनिवेशवाद ही भारत नहीं पहुँचा, उसके साथ वे कुछ मानवीय मूल्य भी साथ आए थे, जिसे योरोपीय सभ्यता ने गहरे वैचारिक मंथन के बाद प्राप्त किया था। उदाहरण के लिए समता की भावना अथवा मानवीय स्वतंत्रता कुछ ऐसे जीवन मूल्य थे, जिसे पश्चिमी सभ्यता ने गहन आत्ममंथन के बाद प्राप्त किया था। भारत का बहुविध संपर्क जब पश्चिम से हुआ, तब भारतीय समाज भी तेजी से बदलने लगा। सामाजिक क्षेत्रों में इस प्रभाव ने नई केन्द्रोन्मुखी प्रवृत्तियों को, विश्रृंखल और विभाजित समाज को पुनः

संगठित करने के लिए प्रेरित किया, जो कई सामाजिक आंदोलनों के माध्यम से प्रकट हुए। आर्य समाज और ब्रह्म समाज दोनों सामाजिक आंदोलन थे। उनका धार्मिक पक्ष से अधिक सामाजिक भावना पर बल था।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप विज्ञान की उन्नति हुई। विज्ञान की उन्नति का यह परिणाम हुआ कि मनुष्य सभ्यता के केन्द्र में आ गया। इससे मानवीय मूल्यों का महत्व बढ़ता गया। विज्ञान ने नैतिकता को ईश्वरपरक न मानकर मानव सापेक्ष माना। विश्व का मानदंड मनुष्य को मानते ही हमारी नैतिकता के आधार में बहुत से अवश्यंभावी परिवर्तन होने लगते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो संवेदना का रूप आधुनिकता हो जाता है। आधुनिक चेतना ने धर्म के आस्थावादी दृष्टिकोण को स्थानांतरित कर इतिहास के प्रश्नों और संशयों को प्रमुखता दी। आधुनिक चेतना ने ऐसी मानसिकता को जन्म दिया, जिसके सहारे भारतीय बुद्धिजीवी और रचनाकार उपनिवेशवाद के शोषण को खुली आँखों से देखने में सक्षम हो सके। वे सामंतों, रजवाड़ों के संधि विग्रहों और गठबंधनों से ऊपर उठकर नई विदेशी सत्ता के राजनैतिक और आर्थिक तंत्र के शोषण को समझ कर, इस निष्कर्ष पर पहुँच सके कि इस शोषण में हिंदू और मुस्लिम समान रूप से शोषित हैं। आधुनिक विचार का उदय औपनिवेशिक दासता की छाया में हुआ था, लेकिन उस औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति भारत में आधुनिकता की कसौटी बन गई।

आधुनिक शब्द जीवन के यथार्थ और वास्तविक संदर्भों को व्यक्त करता है। आधुनिक शब्द एक विशेष कालखंड को द्योतित करते हुए भी मध्ययुगीन विचार पद्धति से भिन्न एक नई जीवन दृष्टि की ओर भी संकेत करता है। हमारे काल खंड का संबंध जब इस नई जीवन दृष्टि से होता है, तो बहुत सी चीजों के साथ हमारे संबंध बदल जाते हैं, इतिहास के साथ, तंत्र और श्रम के साथ, पूँजी के साथ, शासन व्यवस्था के साथ, कला, साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र के साथ। इस नये बोध के कारण रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना जागती है। यह नवीनता बाह्य आचारों से ही संबंधित नहीं रहती वरन् यह वैचारिक स्तर पर भी मनुष्य का संस्कार करती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में उन्नीसवीं सदी से आज तक के साहित्य को "आधुनिक काल" के नाम से अभिहित किया जाता है।

1.13 आधुनिक संवेदना के आधार

पृष्ठभूमि को समझ लेने के उपरांत आधुनिक काल का प्रारंभ कहाँ से होता है, उस पर विचार करना आवश्यक होगा। इसके लिए हमें उन मानदंडों का भी निर्धारण करना होगा, जिसके आधार पर हम मध्यकाल से अलग आधुनिक काल का मूल्यांकन करते हैं। आचार्य शुक्ल गद्य के उत्थान को प्रधान साहित्यिक घटना मानते हैं। उनके मत में खड़ीबोली गद्य का विकास ही आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रवर्तन की सूचना देता है। उस समय देश में एक ऐसी व्यापक प्रयोग की भाषा की आवश्यकता महसूस की जा रही थी, जिसमें क्षेत्रीय सीमा का बंधन न हो। कानपुर, कलकत्ता, आगरा, काशी, पटना, भोपाल और बंबई जैसे विविध क्षेत्रों की भाषाई एकता को परस्पर संयोजित करने की सामर्थ्य भी हो। ऐसी भाषा खड़ीबोली ही थी। खड़ीबोली भाषा का प्रयोग विविध क्षेत्रों के लोकानुभव से जुड़ा था। इसलिए उसमें गद्यात्मक अभिव्यक्ति का सामर्थ्य अधिक था। खड़ी बोली गद्य का विकास जन भाषा के रूप में हो रहा था। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे अनुभव और सोच में जो परिवर्तन आया उसे खड़ी बोली गद्य में रचा सकता था। नई सोच ने नई गद्य विधाओं की प्रस्तावना की, यथा नाटक, कहानी, उपन्यास आदि।

खड़ी बोली गद्य के विकास को आधुनिक काल विभाजन और नामकरण का प्रामाणिक आधार मानने के बाद सर्वप्रथम काल विभाजन की सीमाओं से परिचित होना अनिवार्य है। खड़ी

बोली गद्य को आधार मानकर कुछ विद्वान फोर्टविलियम कॉलेज की स्थापना काल से ही आधुनिक काल की शुरुआत मानना चाहते थे। फोर्ट विलियम कॉलेज में गिलक्राइस्ट के निर्देशन में चार अध्यापक बोलचाल वाली हिंदी के गद्य को विकसित करने में अपना योगदान दे रहे थे। सदासुख नियाज़ी, इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदलमिश्र ने खड़ी बोली गद्य में रचना की। इन रचनाकारों की रचना में भाषा की एकरूपता नहीं थी। आचार्य शुक्ल के शब्दों में कहें तो सदासुख नियाज़ी में पंडितारुपन था, लल्लूलाल की भाषा में ब्रजभाषापन था, सदलमिश्र की भाषा में पूर्वीपन था। दूसरे, इन रचनाकारों की भाषा की शैली में मौखिक परंपरा की शैली मिलती है जिसका आधुनिक चेतना से बहुत अधिक मतलब नहीं था, इसलिए इन लोगों की रचनाओं से आधुनिक काल का प्रारंभ मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

हिंदी खड़ी बोली गद्य को प्रतिष्ठित करने में प्रेस की बड़ी भूमिका रही है। प्रेस के कारण समाचार पत्र का निकलना संभव हुआ। समाचार पत्रों के लिए नए ढंग के गद्य की आवश्यकता हुई। देश में सर्वप्रथम प्रेस की स्थापना सन् 1823 ई. में सिरामपुर में हुई। जुगलकिशोर ने सन् 1826 ई. में कलकत्ता से पहला हिंदी का समाचार पत्र "उदंतमार्तंड" प्रारंभ किया। धीरे–धीरे वैज्ञानिक विकास भी भारत में हो रहा था। सन् 1851–54 के बीच रेल, और डाकतार की सुविधा प्रारंभ हुई। संचार की सुविधा ने भारतीय जनजीवन के संपर्क सूत्रों को मजबूत बनाया। इसका असर साहित्य पर भी दिखाई पड़ा। इससे विभिन्न भारतीय भाषाओं में आपसी लेनदेन के लिए एक मंच तैयार होता है। इसके साथ ही सन् 1857 ई. में देश में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम का युद्ध भी लड़ा गया था और बिट्रिश साम्राज्यवाद को चुनौती दी गई थी।

1.13.1 भारतेंदु युग का काल विभाजन और नामकरण

आधुनिक हिंदी के विकास की प्रारंभिक सीमा को आचार्य शुक्ल 1843 ई. मानते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा आधुनिक साहित्य का प्रारंभ 1868 ई. से मानते हैं, जब से भारतेंदु लेखन का प्रारंभ करते हैं। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय 1850 ई. से हिंदी साहित्य के आधुनिक युग का प्रारंभ मानते हैं। वैज्ञानिक घटनाओं और राजनैतिक घटनाओं के प्रभाव को देखते हुए हिंदी साहित्य के आधुनिक युग का प्रारंभ 1850 ई. से मानना उचित प्रतीत होता है। इन घटनाओं के कारण का समय 1850 ई. आस पास ही ठहरता है। दूसरा कारण यह है कि 1850 ई. भारतेंदु का जन्मकाल है। भले ही उनके जन्म से आधुनिकता प्रारंभ नहीं होती है, लेकिन अन्य घटनाओं के साथ यह भी एक घटना ही है, इसलिए इस वर्ष को आधुनिक संवेदना का प्राथमिक चरण स्वीकार किया जा सकता है। चूँकि आधुनिक युग पूरे कालखंड के नाम का पर्याय है, इसलिए आधुनिक युग की समाप्ति नहीं होती है। आधुनिक युग के अंतर्गत साहित्य विशेष की प्रवृत्ति जिसे सामान्यतया भारतेंदु काल कहा जाता है, उसकी समाप्ति होती है। उसकी अंतिम सीमा आचार्य शुक्ल 1893 ई. मानते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा और लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय भारतेंदुयुग की अंतिम सीमा 1900 ई. मानते हैं। आचार्य शुक्ल के 1893 ई. मानने का कारण यह रहा होगा कि यह वर्ष 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना का वर्ष है। इस संस्था ने हिंदी प्रचार में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। लेकिन 1893 ई. को भारतेंदु युग की अंतिम सीमा मानना इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता है कि भारतेंदु युग की साहित्यिक प्रवृत्ति उस काल में भी सक्रिय थी। अतः 1900 ई. को ही भारतेंदु युग की आखिरी सीमा मानना सही प्रतीत होता है।

1850 ई. से 1900 ई. तक के 50 वर्ष के साहित्य के लिए हिंदी साहित्य के इतिहास में तीन चार नाम प्रस्तावित किए गए हैं। इस कालखंड के लिए परिवर्तनकाल, पुनर्जागरण काल, आधुनिक काल और नवजागरण काल जैसे कुछ नाम सुझाए गए हैं। परिवर्तन किसी एक कालविशेष का लक्षण नहीं हैं। परिवर्तन की प्रवृत्ति हर देश और काल के साहित्य में व्याप्त होती है। अतः परिवर्तनकाल नाम में किसी औचित्य का बोध नहीं होता है। पुनर्जागरण का

महत्व किसी विशिष्ट उद्देश्य से बँधा होता है। पुनर्जागरण का प्रभाव जीवन के विविध अंगों में दिखाई पड़ता है। भारतीय पुनर्जागरण की लहर भारतेंदु युग में ही समाप्त नहीं होती है। उसका प्रचार स्वतंत्रता काल तक होता है। इतने बड़े कालखंड के साहित्य में इतनी अधिक विविधता मिलती है, कि साहित्यिक संवेदना को मात्र पुनर्जागरण कहकर पहचानने में कठिनाई हो सकती है। अतः पुनर्जागरण काल नाम रखने से काम नहीं चलता है। पुनर्जागरण को भी उपविभाग में बाँटकर देखना अनिवार्य हो जाता है। आधुनिक काल नाम सामान्य सा नाम है। आधुनिक संपूर्ण काल खंड के लिए एक नाम है। इसलिए आधुनिक काल के प्रथम 50 वर्षों के साहित्य को उपविभाग में बाँटना आवश्यक हो जाता है। भारतेंदुयुग नवजागरण की सूचना देता है अथवा पुनरुत्थान की, उसके संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। अतः यह नाम भी विवाद से परे नहीं है।

1850–1900 ई. तक के साहित्यिक काल खंड को आचार्य रामचंद्रशुक्ल भी भारतेंदुयुग नाम से नहीं पुकारते हैं। गद्य की दृष्टि से इसे वे हिंदी गद्य साहित्य का **प्रवर्तनकाल** तथा काव्य की दृष्टि से इसे वे **नई धारा** नाम देते हैं। उन्होंने अपने इतिहास में स्थान–स्थान पर हरिश्चंद्र काल जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। आचार्य शुक्ल आधुनिक काल के विकसित साहित्यिक मनोभाव में भारतेंदु की भूमिका को प्रमुख मानते हैं। वे अपने इतिहास में भाषा और साहित्य पर भारतेंदु के गहरे प्रभाव को स्वीकार करते हैं। उन्हीं के शब्दों में "बंगदेश में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था, पर हिंदी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए–नए विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाले हरिश्चंद्र ही हुए।" इस प्रकार हम देखते हैं कि "भारतेंदु" साहित्य को एक लोकदृष्टि प्रदान करते हैं। उनके युग प्रवर्तक व्यक्तित्व के कारण ही साहित्य का एक कालखंड उनके नाम से पुकारा जाने लगता है। हम पाते हैं क़ि शायद किसी भी साहित्येतिहासकार को इस नाम से कोई परेशानी नहीं है। भारतेंदु रचनाकार ही नहीं एक संस्थापक भी थे। उन्होंने साहित्य की रचना ही नहीं की अपितु नये साहित्य के लिए एक वातावरण भी तैयार किया। उनके इन्हीं योगदानों को देखते हुए हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने इस काल को भारतेंदु युग की संज्ञा दी है।

1.13.2 द्विवेदी युग

आधुनिक हिंदी साहित्य का दूसरा काल 1900 ई. आसपास शुरू होता है। सरस्वती पत्रिका का प्रारंभ इसी वर्ष हुआ था। अधिकांश विद्वान सरस्वती पत्रिका के प्रारंभ से द्विवेदी युग की शुरुआत मानते हैं। महावीर प्रसार द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका का संपादन 1903 से संभाला था। उनके नेतृत्व में सरस्वती पत्रिका उस वक्त के साहित्य की मानक–निर्धारिक संस्थान बन गई थी। भाषा की शुद्धता द्विवेदी जी का आदर्श था और मर्यादाबद्ध नैतिकता, साहित्य का मानदंड। भारतेंदु युग का साहित्य उत्साह और उमंग से भरा हुआ था, लेकिन द्विवेदी युग के साहित्य में सर्वत्र अनुशासनबद्धता दिखाई पड़ती है। द्विवेदी जी का प्रभाव केवल गद्य साहित्य पर ही नहीं था, उनका प्रभाव पद्य और काव्यनिर्माण पर भी व्यापक रूप से पड़ा। उन्हीं के प्रभाव से हिंदी परंपरा में व्यवहृत छंदों के स्थान पर संस्कृत पदावली का समावेश बढ़ने लगा। उन्होंने मध्ययुगीन भक्तिकालीन और रीतिकालीन परिपाटी के स्थान पर संस्कृत साहित्य की पद्धति की ओर ध्यान दिया। द्विवेदी जी के आग्रह से कविता में इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी। इस प्रकार हम पाते हैं कि "द्विवेदी युग" का नाम एक कालखंड का व्यक्तिवादी नाम बनकर नहीं उभरता है। वह एक युग के जीवन मूल्यों और साहित्यिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता जान पड़ता है। द्विवेदी युग के नामकरण के संबंध में विद्वानों में विशेष विवाद नहीं है। विद्वानों की तरफ से एकाध नाम सुझाए गए हैं जैसे 'जागरण–सुधार काल,' लेकिन 1900–1920 ई. तक के हिंदी साहित्य के लिए द्विवेदी युग नाम ही चल निकला है। विद्वानों के बीच इसी नाम पर आम सहमति है।

1.13.3 छायावाद

द्विवेदी युग की अंतिम सीमा और छायावाद के प्रारंभ के संबंध में लगभग आम सहमति से 1920 ई. को माना गया है। इसी के आसपास छायावादी साहित्य का आरंभ होता है लेकिन छायावादी काव्य प्रवृत्ति की सूचना कुछ पहले से मिलने लगी थी। 1916 में निराला की 'जुही की कली' प्रकाशित होती है, प्रसाद की कृति 'झरना' का प्रकाशन काल 1918 ई. और पंत के 'पल्लव' की कुछ कविताएँ 1920 के आसपास प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार 1915 ई. के बाद द्विवेदी युगीन काव्य प्रवृत्ति का ढलान देखा जा सकता है। इस आधार पर छायावाद का प्रारंभ 1920 ई. से ही मानना चाहिए। छायावाद की अंतिम सीमा 1936 ई. मानी जाती है। इस समय तक छायावाद की श्रेष्ठ कृतियों का प्रकाशन हो चुका था। 1936 में प्रसाद की 'कामायनी', निराला की 'राम की शक्ति पूजा' प्रेमचंद का 'गोदान' रचा जा चुका था। इसके साथ इसी वर्ष प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना भी हुई थी। अतः 1936 ई. को छायावाद की आखिरी सीमा मानना चाहिए।

छायावाद के नाम पर भी भक्तिकाल की तरह लगभग आम सहमति है। छायावाद काव्य की प्रवृत्ति थी लेकिन उसमें जो कुछ साहित्यिक मूल्य मिलते हैं उसका संबंध उस युग के विविध प्रकार के साहित्य से है। छायावादी साहित्य में रोमांटिक भावबोध की प्रखरता है। यह भावबोध जहाँ पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति पाना चाहता है, वहीं ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति का स्वप्न भी देखता है। यह एक महज संयोग है कि राजनीति में गाँधी जी का प्रवेश और छायावाद का आगमन लगभग साथ–साथ ही हुआ है। गाँधीयुग का प्रभाव छायावादी साहित्य में विशेषकर गद्य विधाओं में देखने को मिलता है। प्रेमचंद के उपन्यास में गाँधी युग की विराट नाटकीयता का सजीव चित्रण मिलता है। छायावादी काव्य के संदर्भ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रवीन्द्रनाथ की आध्यात्मिक और रहस्यवादी कविता का प्रभाव हिंदी काव्य जगत में भी हुआ। इस प्रभाव के फलस्वरूप रहस्यात्मक अनुभूति के और अमूर्त भाव की अभिव्यंजना के लिए लाक्षणिक और चित्रमयी भाषा में रचना होने लगी। अनुभूति, दर्शन और कल्पना के योग से नये प्रकार का काव्य रचा जाने लगा। आचार्य शुक्ल के शब्दों में ''छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अंतर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद (सिंबलिज्म) नाम की काव्य शैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतम प्रेमगान ही करता रहा है।''

1.13.4 छायावादोत्तर

छायावादोत्तर साहित्य में विविध प्रकार की काव्य प्रवृत्तियाँ समय–समय पर अपना मार्ग ग्रहण करती रही हैं। छायावादोत्तर साहित्य में प्रगतिवाद, व्यक्तिवादी गीतिकाव्य, राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता, प्रयोगवाद, नयी कविता, नई कहानी, अकविता के कुछ प्रमुख आंदोलन चले। इस नये साहित्य के आंदोलन के नामकरण और कालविभाजन पर कोई विशेष चर्चा की जरूरत नहीं है। उनके वस्तु और तथ्य पर विवाद हो सकता है उनके कालविभाजन और नामकरण पर कोई विवाद नहीं है। इस पाठ्यक्रम के खंड–4, 5 एवं 6 में हम इन प्रवृत्तियों के काव्य एवं गद्य साहित्य की विस्तृत चर्चा करेंगे।

1.14 सारांश

कालविभाजन और नामकरण की विस्तृत चर्चा के उपरांत आप साहित्य के इतिहास में उसके महत्व को समझ गए होंगे। साथ ही आप साहित्य की उन प्रवृत्तियों से भी परिचित हो गए होंगे जिनको आधार बनाकर साधारणतया काल विभाजन किया जाता है। किसी भी नामकरण को प्रस्तावित करने के पीछे इतिहासकार का मूल मंतव्य क्या होता है, इसे समझने में भी आपको

दिक्कत नहीं हुई होगी। चिंतन की धारा में दो काल विभाग किन बिंदुओं पर अलग होते हैं और उसका अंतर्विरोध किस प्रकार से प्रकट होता है, इस महत्वपूर्ण प्रश्न को भी आप समझ गए होंगे। हमने यह भी चर्चा की कि किस प्रकार से अंतर्विरोधी प्रवृत्ति एक ही काल खंड में सक्रिय होती है। उससे हमारे काल विभाग और नामकरण के निर्णय पर क्या असर पड़ता है। किसी नामकरण के लिए कालखंड को समग्रता में देखना कितना आवश्यक है। इतिहास, समाज और साहित्य के रिश्तों की आपसी पहचान को भी आपने इस इकाई में समझने की कोशिश की। काल विभाजन के बहाने आप जनता के उस मनोभाव से भी परिचित हुए होंगे, जिससे विशिष्ट कालखंड में विशिष्ट प्रकार की चेतना निर्मित होती है। वही भाषा और संवेदना का मूलाधार है।

1.15 अभ्यास प्रश्न

1 कालविभाजन की समस्याओं पर प्रकाश डालिए।

2 हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल के नामकरण संबंधी विवादों की चर्चा करते हुए "आदिकाल" नाम की सार्थकता स्पष्ट कीजिए।

3 भक्तिकाल के काल विभाजन और नामकरण पर विचार कीजिए।

4 आधुनिक काल के विविध कालखंडों के कालविभाजन और नामकरण पर प्रकाश डालिए।

इकाई 2 आदिकाल की पृष्ठभूमि

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई एम.ए. (प्रथम वर्ष) हिन्दी के बीज पाठ्यक्रम के खण्ड–1 की दूसरी इकाई है। इसमें आदिकाल की पृष्ठभूमि पर चर्चा की गई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपः

- आदिकाल के स्वरूप एवं महत्व की चर्चा कर सकेंगे;
- अपभ्रंश के स्वरूप, विकास और आदिकालीन अपभ्रंश साहित्य की चर्चा कर सकेंगे;
- हिन्दी भाषा के विकास का परिचय देते हुए अपभ्रंश और हिन्दी के बीच के अंतर के आधारों को जान सकेंगे;
- आदिकालीन साहित्य को प्रभावित करने वाली राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परिस्थितियों की चर्चा कर सकेंगे; और
- आदिकालीन उपलब्ध साहित्य की संक्षिप्त जानकारी दे सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

आदिकाल के साहित्य को समझने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि को समझें। वस्तुतः आदिकाल हिंदी साहित्य के इतिहास का एक कालखंड है। इस खण्ड की इकाई संख्या 1 में आपने पढ़ा कि हिंदी साहित्येतिहास के प्रथम काल को आदिकाल

नाम से संबोधित किया गया है। इस काल के लिए कई नाम सुझाए गए यथा–चारण काल, प्रारंभिक काल, वीरगाथा काल, संधिकाल और चारणकाल, सिद्ध सामंतकाल तथा आदिकाल। नामकरण और कालविभाजन के संदर्भ में इस विषय पर इकाई संख्या–1 में विस्तृत चर्चा हो चुकी है। यहाँ इतना समझना आवश्यक होगा कि काल की दृष्टि से प्रथम काल को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल कहा और प्रवृत्ति के आधार पर इसे "वीरगाथा काल" की संज्ञा दी। परंतु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रवृत्ति के आधार पर भी इस काल के लिए 'आदिकाल' नाम ही प्रस्तावित करते हैं। यही नाम विद्वानों के बीच लोकप्रिय हुआ। यह नाम यदि प्रथमकाल के लिए लोकप्रिय हुआ तो उसका कारण यह था कि "आदिकाल" जैसे नाम में एक प्रकार का खुलापन है। उसमें तत्कालीन साहित्य की चेतना के विविध रूपों का संयोजन हो सकता है।

"आदि' कहने से भाषा और संवेदना की आदिम अवस्था का बोध होता है। यों तो हिंदी भाषा का प्रारंभ सातवीं शती से ही माना जाता रहा है। परंतु मुख्य रूप से हिंदी भाषा का विकास दसवीं सदी से आरंभ होता है। 1000 ई.–1400 ई. के मध्य जो साहित्य हिंदी प्रदेशों में उपलब्ध होता है, वही हमारे आदिकालीन साहित्य के आधारग्रंथ हैं। आदिकालीन साहित्य की सर्जनात्मकंता का संबंध दसवीं सदी के पूर्व के साहित्य से भी है और चौदहवीं सदी के बाद के साहित्य से भी है। साहित्य के इतिहास में ऐसा कभी नहीं होता है कि किसी खास बिंदु पर भाषा और रचनात्मक संवेदना ठहर जाती है और उसके बाद वह दूसरा रुख अख्तियार करती है। साहित्य की शृंखला में अटूट संबंध होता है। उनका आपसी संबंध बहुत ही सघन होता है। भाषा और संवेदना के आरंभिक परिवर्तन का बड़ा ही क्षीण सूत्र आरंभ में मिलता है। इसलिए आदिकाल के हिन्दी साहित्य को अपभ्रंश से अलग करने के लिए हमें साहित्य के अटूट रिश्तों को भी समझना होगा। उसके साथ–साथ इन परिवर्तनों को भी सूक्ष्मता से विवेचित करना होगा।

2.2 आदिकाल का स्वरूप एवं महत्व

आदिकाल, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है किसी भी साहित्य धारा का वह प्रारंभिक या पहला काल–खण्ड होता है जहाँ से उसकी शुरुआत होती है। यों आदिकाल के वास्तविक स्वरूप को जान लेना सहज नहीं है। किन्तु भारतीय चिंतन धारा के उस महत्वपूर्ण काल के रूप में इसे जाना जा सकता है जहाँ परस्पर विरोधी तत्वों को एक साथ साहित्य में देखा जाता है। राजनैतिक उथल–पुथल, विदेशी आक्रमण तथा दो–दो संस्कृतियों के मिलन का परिवेश वहाँ है। अशांति और बिखराव से छिन्न–भिन्न सामाजिक स्थिति, विविध धर्म, सम्प्रदाय एवं दर्शनों का फैलता प्रभुत्व भी वहाँ है। जन–सामान्य को आकर्षित–भ्रमित करते टोने–टोटके, तंत्र–मंत्र तथा जादू–चमत्कार और जैन, वैष्णव, शैव कापालिक, शाक्त, सिद्ध एवं नाथ आदि कई धार्मिक सम्प्रदायों की बहुत सी प्रवृत्तियाँ भी इस युग के समग्र साहित्य में देखी जाती हैं, जिनमें अंतराल भी है और विरोध भी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा भी है – "शायद ही भारतवर्ष के साहित्य में इतने विरोधों और स्वतोव्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के ऐसे बड़े–बड़े कवि उत्पन्न हुए, जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य–परम्परा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं और दूसरी ओर अपभ्रंश के कवि हुए, जो अत्यंत सहज सरल–भाषा में, अत्यंत संक्षिप्त शब्दों में, अपने मनोभाव प्रकट करते थे..... फिर धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्‌भव इसी काल में हुआ था और दूसरी ओर निरक्षर संतों के ज्ञान–प्रचार का बीज भी इसी काल में बोया गया।" (हिन्दी साहित्य का आदिकाल) यों तो हिन्दी साहित्य के विकास की शुरुआत भी यहीं से देखी जाती है किन्तु साथ ही परवर्ती हिन्दी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियों, काव्य–शैलियों आदि का उद्‌गम–स्थल भी यही माना जाता है। इस युग के साहित्य में भाषा की दृष्टि से हिन्दी के आदि रूप की जानकारी मिलती है और भाव की दृष्टि से हम इनमें आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रारंभिक रूप को देख सकते हैं।

काव्यरूपों के प्रयोग की दृष्टि से भी इस युग के साहित्य का महत्व है। "भाषा की दृष्टि से इसमें भक्तिकाल से आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज खोजे जा सकते हैं। जहाँ तक रचना शैलियों का प्रश्न है, उनके भी वे सभी रूप, जो परवर्ती काल में प्रयुक्त हुए, यहाँ अपने आदि रूप में मिल जाते हैं। इस काल की आध्यात्मिक, शृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास ; सं. – डॉ. नगेन्द्र)। इस युग के सिद्धों और नाथों का प्रभाव भक्तिकाल में कबीरादि संत कवियों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। "यदि कबीर आदि निर्गुणमतवादी संतों की वाणियों की बाहरी रूपरेखा पर विचार किया जाए तो मालूम होगा कि यह संपूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अंतिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है। वे ही पद, वे ही राग–रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयाँ कबीर आदि ने व्यवहार की हैं, जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती संतों ने की थीं। क्या भाव, क्या भाषा, तथा अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द, सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्गदर्शक हैं।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका – आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी)।

2.3 अपभ्रंश का स्वरूप और विकास

हिन्दी साहित्य और उसके इतिहास के क्रम में अपभ्रंश साहित्य की चर्चा अवश्य होती है। आइए देखें कि अपभ्रंश का स्वरूप क्या है और वह हिन्दी साहित्य से किस हद तक जुड़ा हुआ है। अपभ्रंश भाषा का समय 500 ई. पूर्व से 1000 ई. तक माना जाता है। अपभ्रंश का अर्थ है – भ्रष्ट, विकृत अथवा अशुद्ध। इस नाम का प्रयोग पहले पहल उस शब्द के लिए होता था, जो भाषा के सामान्य मानदंड से गिरा होता था। आरंभ में संस्कृत के विकृत शब्द रूप के लिए भर्तृहरि, पतंजलि आदि वैयाकरणों ने "अपभ्रंश" का प्रयोग किया। धीरे–धीरे इस नाम का अर्थ–विस्तार हुआ और यह भाषा विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा। भाषा विशेष के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग छठी शताब्दी ईस्वी के आसपास मिलता है। भारतीय आर्यभाषा के विकास में अपभ्रंश प्राकृत के बाद की अवस्था है। इस भाषा में आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के बीच के साहित्य का सृजन हुआ।

अपभ्रंश भाषा को समझने के लिए भारतीय आर्यभाषा के विकास को जानना जरूरी है। प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और इसके समानान्तर अनेक जन भाषाएँ बोली के रूप में जीवित रहती हैं। वेदों की भाषा छन्दस् ने तत्कालीन देशी भाषा से शक्ति अर्जित करके संस्कृत का रूप लिया। इसी प्रकार पालि, प्राकृत और अपभ्रंश अवस्था का जन्म हुआ। छन्दस् से संस्कृत तक का समय 1500 ई० पू० से 500 ई० पू० तक का माना जाता है और इन्हें प्राचीन आर्यभाषा कहा जाता है। पालि, प्राकृत अपभ्रंश मध्यकालीन आर्यभाषाएँ हैं जो 500 ई० पू० – 1000 ई० पू० तक मानी जाती हैं। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ (सिंधी, गुजराती, अवधी, ब्रज, पंजाबी आदि) 1000 ई० से वर्तमान समय तक मानी गई हैं। इस विषय पर विस्तृत चर्चा पर इस पाठ्यक्रम के खण्ड–7 में की जाएगी।

अपभ्रंश मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की अंतिम कड़ी और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जननी है। हिन्दी भी उनमें से एक है। इसीलिए हिन्दी साहित्य को समझने के लिए अपभ्रंश साहित्य को समझना जरूरी है।

वस्तुतः "आदिकाल में हिन्दी–साहित्य के समानान्तर संस्कृत और अपभ्रंश–साहित्य की भी रचना हो रही थी। इनमें से संस्कृत–साहित्य का तो सामान्य जनता तथा हिन्दी कवियों पर उतना प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ रहा था, किन्तु अपभ्रंश–साहित्य भाषा की निकटता के कारण हिन्दी साहित्य के लिए निरन्तर साथ चलने वाली पृष्ठभूमि का काम कर रहा था।" (हिन्दी साहित्य का

इतिहास, संपादक डा. नगेन्द्र) वस्तुतः अपभ्रंश का साहित्य विविध प्रकार का है। आज उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य का बहुत बड़ा भाग जैन कवियों द्वारा रचित धार्मिक साहित्य के रूप में मिलता है। जैन कवियों ने पौराणिक कथा–प्रबंध, रहस्य और नीतिपरक कृतियों की रचना की है। जैन अपभ्रंश साहित्य की भाँति ही बौद्धों की अपभ्रंश रचनाएँ भी धार्मिक दृष्टिकोण से लिखी गई हैं। इन जैन–बौद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य की एक अन्य धारा–लौकिक साहित्य की धारा, भी उपलब्ध होती है जिसमें शृंगार प्रधान प्रबंध एवं मुक्तक – दोनों प्रकार की रचनाएँ शामिल हैं। केवल समझ के लिए अपभ्रंश साहित्य को निम्नलिखित प्रमुख धाराओं में विभाजित कर सकते हैं :

(i) **पुराण साहित्य :** अपभ्रंश में प्रमुख रूप से जैनियों द्वारा पौराणिक कथानकों को लेकर साहित्य रचना की गई। इनमें पुष्पदंत का 'महापुराण' और शालिभद्र सूरि का 'बाहुबलि रास' प्रमुख है। इस धारा के प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयंभू हैं। उन्होंने राम को लेकर "पउम चरिउ" (पद्म चरित्र) तथा कृष्ण को लेकर रिट्ठणेमिचरिउ (आरिष्ट नेमिचरित) की रचना की।

(ii) **चरित्र काव्य :** चरित्र काव्य या चरित काव्य लोकप्रिय व्यक्तियों के जीवन चरित्र हैं। इस साहित्य धारा के अंतर्गत कवि पुष्पदंत के 'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) तथा 'जसहर चरिउ' (जसहर चरित) आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

(iii) **कथा काव्य :** लोकप्रिय व्यक्तियों के चरित काव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश में कुछ ऐसे चरित काव्य भी लिखे गए जिसका मुख्य पात्र या तो कवि की कल्पना से उत्पन्न होता था या उसे लोक कथाओं से लिया गया होता था। कथा काव्य के अंतर्गत 'धनपाल' द्वारा रचित 'भविसयत्त कहा' या 'भविष्यदन्त कथा' का नाम उल्लेखनीय है।

(iv) **जैन कवियों का नीतिपरक साहित्य :** जैन कवियों ने दोहों के माध्यम से मुक्तक काव्य की भी रचना की। इनमें जीवन के आदर्शों का वर्णन है। इनमें रहस्यवादी साधना का स्वर भी सुनाई पड़ता है। 'जोइन्दु' का 'परमात्म प्रकाश' तथा 'राम सिंह' का 'पाहुड़ दोहा' अपभ्रंश नीतिपरक साहित्य की प्रमुख कृतियाँ हैं।

(v) **बौद्ध सिद्ध काव्य :** बौद्ध सिद्ध कवियों ने रहस्य साधना संबंधी अपनी काव्य रचना अपभ्रंश में ही की । ये सिद्ध कवि जैन कवियों के सामानान्तर पूर्वी प्रदेशों में साहित्यिक अपभ्रंश में काव्य रचना कर रहे थे। इस धारा के अन्तर्गत 'सरहपा' और 'कण्हपा' के 'दोहा कोष' उल्लेखनीय हैं। जैन कवियों के समान ही इन सिद्ध कवियों ने अन्तःसाधना पर बल दिया।

(vi) **आदिकालीन रचनाएँ :** हम जिसे हिन्दी साहित्य का आदिकाल कहते हैं, उसकी कई रचनाएँ अपभ्रंश में हैं। 'रासो साहित्य' के अन्तर्गत अब्दुर्रहमान की कृति 'संदेश रासक' अपभ्रंश में ही रचित है। यह एक संदेश काव्य है जिसमें सर्वाधिक 'रासक छंद' का प्रयोग किया गया है।

संस्कृत के आचार्यों और अपभ्रंश कवियों ने अपभ्रंश को देशभाषा कहा है। महान अपभ्रंश कवि स्वयंभू और पुष्पदंत ने अपनी भाषा को "ग्रामीण भाषा" अथवा "देशी भाषा" कहा है। वस्तुतः प्रत्येक युग में एक साहित्यिक भाषा होती है और अनेक लोक भाषाएँ होती हैं। इन्हीं लोक भाषाओं से साहित्यिक भाषा जीवन का रस प्राप्त करती है और इस प्रकार यह जीवंत बनी रहती है। जब साहित्यिक भाषा जनता से दूर हटती है और केवल पंडितों की भाषा रह जाती है, तब यह भाषा मृत हो जाती है और उसका स्थान कोई लोकभाषा ले लेती है। कालान्तर में

यही लोकभाषा साहित्यिक भाषा बन जाती है और भाषा के विकास का यह क्रम लगातार चलता रहता है। वैदिक काल में छन्दस् साहित्यिक भाषा थी और संस्कृत लोकभाषा। बाद में छन्दस् ने लोकभाषा से शक्ति अर्जित की और संस्कृत के रूप में नई साहित्यिक भाषा सामने आई। जब संस्कृत साहित्यिक भाषा के रूप प्रतिष्ठित थी, उस समय प्राकृत लोकभाषा के रूप में इसके समानान्तर चल रही थी। जब संस्कृत पंडितों की भाषा रह गई और जनता से उसका सम्पर्क टूट गया, तब प्राकृत ने धीरे–धीरे साहित्यिक भाषा का रूप ले लिया। इसी प्रकार, जब प्राकृत रूढ़ और बद्ध हो गई तब अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में सामने आई। आगे चलकर अपभ्रंश का युग भी समाप्त हुआ और आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य की रचना की जाने लगी।

पर अपभ्रंश को देशभाषा कहा जाए या नहीं, इस पर विद्वानों के बीच काफी मतभेद है। कुछ विद्वान जैसे पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीति कुमार चटर्जी आदि अपभ्रंश को "देशभाषा' मानते हैं, जबकि याकोबी, कीथ, ज्यूल बलाख आदि विद्वान अपभ्रंश को देशभाषा नहीं मानते हैं। वे इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश में देशभाषा के अनिवार्य तत्व मौजूद थे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक प्राकृत का देश भाषाओं के साथ सम्पर्क हुआ और इस प्रकार भारतीय आर्यभाषा की अपभ्रंश अवस्था की शुरुआत हुई। इस सिलसिले में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत दृष्टव्य है : "जब से प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश साहित्य का अविर्भाव समझना चाहिए। प्राकृत से बिगड़कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य रचना के लिए रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल की थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गयी तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।"

2.4 हिंदी भाषा का विकास

हिंदी भाषा के विकास को समझने से पूर्व यह समझना आवश्यक होगा कि किसी भी भाषा के विकास में जनमानस की क्या भूमिका होती है। भाषा में रचनात्मक क्षमता तभी तक होती है, जब तक वह लोकसामान्य के अनुभव से जुड़ी होती है। भाषा जब लोक जीवन से अलग होकर कुछ वर्ग तक सीमित होने लगती है, तब उसमें एक प्रकार की जड़ता आने लगती है। फिर रचनात्मक प्रतिभा उस जड़ता को त्याग कर नये मनोभाव के अनुकूल नई भाषा की रचना करती है। उदाहरण के लिए हम रीतिकालीन भाषा के विरूद्ध खड़ी बोली की प्रतिष्ठा का उदाहरण दे सकते हैं। रीतिकाल में जीवन के प्रति यथास्थितिवादी दृष्टिकोण ने भाषा को जड़ बना दिया। इसीलिए आधुनिक संवेदना के विकास के साथ भाषा परिवर्तन अनिवार्य हो गया। इसी प्रकार की घटना आदिकालीन भाषा में भी घटित हुई। प्राकृत जब से पुस्तकों की भाषा हो गई, उसी समय से बोलचाल की भाषा ने नया स्वरूप ग्रहण किया। इस भाषा को अपभ्रंश भाषा कहा गया। लेकिन एक बात जिस पर ध्यान देना चाहिए, वह यह कि जब तक वह बोलचाल की भाषा थी तब तक उसे देशभाषा कहा जाता था लेकिन जब वह साहित्य की भाषा हो गई तब उसका नाम अपभ्रंश चल पड़ा।

देशभाषा से अलग होकर अपभ्रंश, साहित्य की अभिव्यक्ति की भाषा हो गई। भाषा जब देशभाषा से अलग हुई तो उसमें शास्त्रीयता जैसी प्रवृत्ति पनपने लगी। अपभ्रंश के परिनिष्ठित भाषा के रूप से अलग देशभाषा और अपभ्रंश के मेलजोल से एक नई भाषा विकसित हो रही थी। यह भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा थी। अपभ्रंश के आचार्य हेमचंद्र दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा करते हैं। प्रथम प्रकार की वह अपभ्रंश भाषा जिसका व्याकरण उन्होंने

स्वयं लिखा था। इस अपभ्रंश भाषा में जैन कवियों और आचार्यों ने रचना की थी। इस भाषा का रिश्ता अपभ्रंश के नागर रूप से था। इसके साथ ही एक दूसरे प्रकार की अपभ्रंश भाषा भी प्रचलित हो रही थी। इसे हेमचंद्र ने ग्राम्यभाषा कहा है। बौद्ध सिद्धों के दोहे और संदेश रासक जैसे काव्य इस ग्राम्य भाषा के उदाहरण हैं। ग्राम्यभाषा में रासक, डोम्बिका आदि लोक प्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते थे। इसी भाषा का आगे चलकर हिंदी भाषा के रूप में विकास हुआ। वस्तुतः यह भाषा छंद, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और विषय वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप का ही विकास है, परंतु उस भाषा का मिजाज बदला हुआ है। भाषा के मिजाज बदलने का प्रमुख कारण जीवन और समाज के स्थापित कर्मकांड के प्रति विद्रोह था। यह विरोध हमें सिद्धों और नाथों के साहित्य के देखने को मिलता है। इसीलिए हिंदी भाषा के प्रारंभिक रूप की जानकारी भी इन्हीं की रचनाओं से मिलती है। स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है "अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पदों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।" इस बिंदु पर विस्तृत चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि अनुभूति बदलने से साहित्य की भाषा में भी परिवर्तन होने लगा। नई अनुभूति ने नई भाषा की तलाश की।

जैसा कि आप इसी इकाई के बिन्दु 2.7.1 में पढ़ेंगे कि ग्यारहवीं सदी के पहले से ही भारत पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गए थे और लगभग दो सौ वर्षों में उन्होंने संपूर्ण भारत पर अपना अधिकार जमा लिया था। वैसे तो उस समय उनकी अपनी भाषा या राजभाषा फारसी थी किन्तु भारतीयों के साथ व्यवहार एवं संपर्क करने के लिए उस समय प्रचलित प्राचीन हिन्दी को ही साधन–माध्यम बनाया गया। धीरे–धीरे आदिकाल के आगामी वर्षों में इसी प्राचीन हिन्दी से विकसित अनेक रूप सामने आ गए। इन्हीं रूपों में से एक रूप 'डिंगल' था जिसका संबंध राजस्थानी साहित्य से है। डिंगल साहित्य की दो प्रमुख रचनाएँ मानी जाती हैं – श्रीधर कृत 'रणमल छंद' और कल्लौल कृत 'ढोला मारू रा दूहा'। हिन्दी भाषा का एक दूसरा रूप भी विकसित हुआ जिसे 'पिंगल' के नाम से अभिहित किया गया। पिंगल वस्तुतः मध्य देश की साहित्यिक ब्रजभाषा का ही नाम था। इसी युग में 'डिंगल', 'पिंगल' के अतिरिक्त हिन्दी का एक तीसरा रूप भी मिलता है जिसे कुछ विद्वानों ने 'हिन्दवी' के नाम से पुकारा। हिन्दी के इस रूप को हम तेरहवीं शती के आसपास अमीर खुसरो के साहित्य में देख सकते हैं। यह हिन्दी भाषा के रूप से अलग है। वास्तव में यह भाषा का वह रूप है जो उस युग की सामान्य जनता प्रयोग में लाती होगी।

हिन्दी भाषा के आरंभ से ही हिन्दी साहित्य के आरम्भ पर विचार किया जा सकता है। "इस भाषा का विकास एक जनभाषा के रूप में हुआ है। कोई भी जनभाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता में सदा एकरूप नहीं रह सकती। स्थान और काल के भेद से उसमें रूप भेद भी उत्पन्न हो जाता है, किन्तु जब तक उन रूपों की तात्विक समानता सुरक्षित रहती है तब तक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. नगेन्द्र)

आदिकालीन हिन्दी साहित्य के विकास में उस समय उपलब्ध धार्मिक साहित्य जैसे जैन, बौद्ध, नाथ, सिद्ध आदि का बहुत बड़ा योगदान परिलक्षित होता है। जैन साहित्य का अध्ययन करने पर हम देखेंगे कि उसकी भाषा हिन्दी के आदिकालीन स्वरूप का परिचय देती है। वास्तव में यह भाषा अपभ्रंश से प्रभावित है। प्राचीन हिन्दी के अन्तर्गत बौद्धों एवं सिद्धों के साहित्य में पश्चिमी एवं पूर्वी अपभ्रंश के शब्दों का मिला–जुला रूप देखने को मिलता है। बौद्धों की एक शाखा थी वज्रयान, इसी शाखा से संबद्ध गोरखनाथ ने नाथ पंथ की स्थापना की। नाथ पंथियों का एकेश्वरवाद में विश्वास था और वे मूर्तिपूजा के विरोधी थे। उनकी भाषा प्राचीन पश्चिमी हिन्दी की बोलियों के मिश्रित रूप में थी। हिन्दी के प्राचीन रूप को विकास की ओर अग्रसर करने में आदिकालीन रासो साहित्य का भी महत्वपूर्ण योगदान है। इस क्षेत्र में बीसलदेव रासो और पृथ्वीराज रासो का विशेष महत्व है। बीसलदेव रासो की भाषा में डिंगल तथा पिंगल दोनों ही भाषाओं के रूप दृष्टिगत होते हैं परन्तु पृथ्वीराज रासो की भाषा में कहीं हिन्दी, कहीं

राजस्थानी मिश्रित हिन्दी, कहीं ब्रजभाषा के रूप, कहीं विकृत अपभ्रंश के रूप उपलब्ध होते हैं। यद्यपि पृथ्वीराज रासो की भाषा को विद्वानों द्वारा पिंगल बताया गया है जो ब्रजभाषा का ही एक रूप है।

तेरहवीं शताब्दी के आसपास विकसित हिन्दी के एक अन्य रूप 'हिन्दवी' की झलक हमें अमीर खुसरो के साहित्य में दिखाई देती है। खुसरो की पहेलियाँ, ढकोसले, दो/सखुन आदि में हिन्दी के सरल स्वाभाविक एवं बोलचाल की भाषा के रूप के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए देखिएः

दो/सखुन

सितार क्यों न बजा?

औरत क्यों न नहाई—परदा न था!

चौदहवीं शताब्दी में मुसलमान शासकों द्वारा दक्षिण भारत पर भी आक्रमण होने से इन शासकों के साथ मौलवी एवं व्यापारियों आदि का भी दक्षिण भारत में आगमन हो गया। उस समय राजधानी के आसपास बोली जाने वाली भाषा को ये लोग अपने साथ ले गए। अब दक्षिण भारत के निवासियों के साथ व्यवहार एवं जनसंपर्क के लिए एक ऐसी भाषा का रूप विकसित हुआ जिसमें दक्षिण भारत की भाषाओं के शब्द भी आ गए। धीरे—धीरे भाषा के इस रूप को स्थिरता मिली और यही भाषा आगे चलकर 'दक्खिनी हिन्दी' के नाम से जानी जाने लगी।

2.5 अपभ्रंश और हिन्दी के बीच के अंतर का प्रामाणिक आधार

अपभ्रंश साहित्य और आदिकालीन साहित्य के बीच अंतर बहुत ही क्षीण है। परन्तु उनके बीच के अंतर को हमें स्पष्ट रूप से जानना और समझना होगा। इसी अंतर के आधार पर अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के आदिकाल के बीच विभाजन स्पष्ट होगा। स्पष्ट विभाजन नहीं हो सकने का सबसे बड़ा कारण है भाषा का धीमा परिवर्तन। भाषा में परिवर्तन इतिहास की घटनाओं की तरह नहीं होता है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह को विभाजित करने में कठिनाई होती है उसी प्रकार भाषा के प्रवाह को भी एक बिन्दु पर बाँटा नहीं जा सकता है। लेकिन भाषा और व्याकरण की कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो उसे दूसरों से विशिष्ट बनाती हैं। इन्हीं विशिष्टताओं से भाषा के पूर्ववती विकास और परवर्ती विकास के बीच स्थान निर्धारित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए प्राकृतभाषा अपभ्रंश और देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश के बीच अपभ्रंश भाषा की कुछ अपनी निजी पहचान बनी होगी, जिससे कि हम उसे दोनों प्रकार की भाषाओं से अलग स्थान दे सकें। देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश से हिंदी का आविर्भाव माना जाता है। लेकिन जब से भाषा में हिंदी के लक्षण दिखाई पड़ने लगे होंगे तब से हिंदी भाषा की कुछ अपनी निजी पहचान भी बननी शुरू हो गई होगी। इस निजी पहचान से ही हिंदी भाषा का विस्तार अपभ्रंश से अलग हो गया होगा।

अब इस बात पर विचार करना आवश्यक होगा कि हिंदी भाषा की वह अपनी कौन सी निजी विशिष्टता थी जिसके कारण हम उसे अपभ्रंश भाषा से अलग मानते हैं। सर्वप्रथम भाषा के स्तर पर उसे पहचानना होगा। विद्वानों ने हिंदी को विशिष्ट बनाने वाली तीन भाषा प्रवृत्तियों की चर्चा की है। प्रथम, क्षतिपूरक दीर्घीकरण, जैसे प्राकृत अपभ्रंश के कज्ज, कम्म, हथ्थ जैसे शब्द हिंदी में काज, काम, हाथ बन गए। द्वितीय, परसर्ग की प्रयोग बहुलता जैसे अधिकरण परसर्ग मन्झहि, मज्झे, मज्झि, मंझ, मधि, महि, मह आदि विविध रूप हैं। तृतीय, तत्सम शब्दों के प्रचलन से देश भाषा का विकास माना जाता है। यह हिंदी भाषा की मूल प्रवृत्ति है जो उसे प्राकृत – अपभ्रंश से अलग करती है। इन्हीं आधारों को ध्यान में रखते हुए आदिकाल की साहित्य सामग्री पर निर्णय किया जा सकता है।

हमने जिन आधारों पर चर्चा की है उन्हीं आधारों के माध्यम से हमारे पास मूल्यांकन की एक कसौटी बन जाने से उसके द्वारा साहित्य को परखने का अवसर प्राप्त हो जाता है। ऊपर हमने जिस कसौटी की चर्चा की है, उनके आधार पर आदिकालीन हिंदी साहित्य में दो प्रकार की सामग्री उपलब्ध होती है। प्रथम वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं, जिनकी भाषा तो हिंदी है परन्तु वह अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं है और द्वितीय प्रकार की रचनाएँ वे हैं, जिनको अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिंदी की रचना स्वीकार किया जा सकता है। अपभ्रंश से प्रभावित हिंदी की श्रेणी में :

(1) सिद्ध साहित्य
(2) नाथ साहित्य
(3) जैन साहित्य के कुछ ग्रंथ जैसे भरतेश्वर बाहुबलिरास, इत्यादि
(4) लौकिक साहित्य में राउलखेल, और वर्णरत्नाकर
(5) रासो साहित्य में हम्मीर रासो को रखा जा सकता है।

कुछ रचनाएँ अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त मानी जा सकती हैं। इस श्रेणी में :
(1) खुम्माणरासो (2) परमाल रासो
(3) चंदनबाला रास (4) स्थूलिभद्ररास
(5) रेवन्तगिरिरास (6) नेमिनाथ रस
(7) वसन्त विलास (8) खुसरो की पहेलियाँ को स्थान दिया जा सकता है।

इस साहित्य को भी पूर्णतः अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त नहीं माना जा सकता लेकिन हिंदी का प्रभाव इन रचनाओं में अधिक स्पष्टता से दिखाई पड़ता है। इस प्रकार हम शुद्ध अपभ्रंश की रचनाओं से अलग आदिकालीन हिंदी साहित्य का एक प्रतिमान तैयार कर सकते हैं।

इसके अंतर्गत शुद्ध अपभ्रंश की रचनाओं को जैसे पद्म चरिउ, स्वयंभू छंद, महापुराण, जसहर चरिउ, भविसयत्त कहा, संदेश रासक आदि को स्वीकार करना उचित नहीं होगा। इसके साथ ही सिद्ध साहित्य, नाथ साहित्य तथा जैन साहित्य की कुछ रचनाओं को हिंदी से बाहर रखना भी उचित नहीं है। इन रचनाओं के संबंध में आचार्य शुक्ल का मत है कि ये धार्मिक साहित्य हैं, इन्हें साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं दिया जा सकता है। लेकिन धार्मिकता को आधार बनाकर किसी साहित्य को खारिज नहीं किया जा सकता है। यदि ऐसा संभव हुआ तो भक्ति साहित्य को भी हिंदी साहित्य से बाहर कर दिया जायेगा। सिद्धों के साहित्य में अवश्य कुछ स्थलों पर वीभत्स वर्णन है। उन्हें साहित्य में स्थान देना उचित प्रतीत नहीं होता, परंतु भाषा के विकास की दृष्टि से ही सही, उन्हें हिंदी साहित्य से अलग रखना भी न्यायपूर्ण नहीं है। नाथों के साहित्य की प्रामाणिकता को लेकर संदेह अवश्य किया जा सकता है, परंतु उनके साहित्य को त्याग नहीं सकते हैं। जैन साहित्य में तो गृहस्थ जीवन की जटिलताओं और स्वाभाविक अनुभूतियों का वर्णन है। काव्य की प्रामाणिकता की दृष्टि से भी जैन रचनाएँ असंदिग्ध हैं। अतः उन्हें भी त्यागा नहीं जा सकता है। रासो ग्रंथ तो हिंदी में ही लिखे गए हैं। रासो साहित्य पर विचार करते हुए एक ही प्रश्न प्रमुख रूप से उठता है – उनकी प्रामाणिकता के संदर्भ में। आदिकालीन साहित्य और मध्यकालीन साहित्य में रचनाओं की भाषा और विषय वस्तु के संदर्भ में विवाद उभरते रहे हैं। उनमें से क्षेपक अंशों पर भी चर्चा होती रही है। वाचिक और मौखिक परंपरा के कारण विषय वस्तु और भाषा में परिवर्तन होता रहा है। इस विवाद के बाद भी उन्हें साहित्य में स्थान दिया जाता रहा है। प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के गहरे विवाद के बाद भी उन्हें साहित्य से अलग हटाना उचित नहीं है। यदि प्रामाणिकता को आधार बनाकर साहित्य की समीक्षा की गई तो ऐसा भी हो सकता है कि आदिकाल में साहित्य ही उपलब्ध नहीं होगा। क्योंकि इस काल की सभी कृतियों पर कुछ न कुछ विवाद है।

2.6 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि

आदिकालीन साहित्य पर निर्णय लेने के उपरांत यह आवश्यक है कि हम उन परिदृश्यों की चर्चा करें, जिनके बीच साहित्य निर्मित हो रहा था। साहित्य का वातावरण शून्य में निर्मित नहीं होता है। साहित्यिक रचनाओं के पीछे ऐतिहासिक शक्तियों और सामाजिक संस्थाओं का योगदान होता है। सामाजिक संगठन काव्यानुभूति की जटिलता के बीच सक्रिय होता है इसलिए हम काव्यानुभूति की जटिल संवेदना को उसी हद तक समझ सकते हैं, जिस हद तक समाज को समझने की क्षमता अर्जित करेंगे। समाज की भीतरी गति की पहचान से कलात्मक मूल्यों का प्रतिमान बनेगा। हम चाहे किसी भी युग के साहित्य की चर्चा करें, उसके साहित्यिक मूल्य उसके अपने समाज की वास्तविकता से ही प्रमाणित होते हैं, इसीलिए साहित्य के सामाजिक मूल्य और उसकी कलात्मक व्याख्या के लिए समाज की जानकारी अनिवार्य हो जाती है। संवेदना की बनावट के पीछे आर्थिक सामाजिक संबंधों की गहरी छाया मौजूद होती है। आज यदि कलाकारों में भक्त कवियों जैसी गहरी संवेदना का अभाव मिलता है तो उसका कारण है उत्पादन के तरीके बदलने से हमारे सोचने, समझने और अनुभव करने का नजरिया बदल गया है। इसलिए साहित्य के सत्ता, समाज, आर्थिक गतिविधि, धार्मिक विचार और दर्शन के साथ अन्तः संबंधों की जाँच पड़ताल जरूरी है।

2.6.1 राजनीतिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी का यह प्रारंभिक काल भारतीय राजनीतिक जीवन के विशृंखल होने का काल है। सातवीं–आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के राजनीतिक घटना चक्र ने हिन्दी साहित्य को भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रभावित किया। विशृंखलता तथा राजनीतिक असंतुलन के इस युग का प्रारंभ राजवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुज और सशक्त हिन्दू सम्राट हर्षवर्धन के सिंहासनारूढ़ होने से होता है। हर्षवर्धन ने सन् 606 ई. में सिंहासन संभाला और अपनी योग्यता तथा प्रतिभा से अपने विरोधियों को वश में कर लिया। उसने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया और उत्तर भारत के अधिकतम क्षेत्रों को एक सूत्र में बांधने में सफल हुआ। हर्षवर्धन के शासनकाल में ही चीनी यात्री ह्यूनसांग भारत आया था और उसने उस समय के भारत के धर्म और समाज के व्यवस्थित होने का उल्लेख किया था। 647 ई. में हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत का साम्राज्य एक सूत्र होकर न रह सका और छोटे–छोटे टुकड़ों में बँट गया। इस समय का राजनीतिक परिदृश्य बहुत ही उलझा हुआ था। कुछ राज्य थोड़े समय के लिए काफी शक्तिशाली बने मगर उनमें से कोई भी अपनी प्रभुसत्ता कायम नहीं कर पाए। ये राज्य एक दूसरे के साथ लगातार चढ़ाइयों में उलझे रहे। परंतु उनमें से अजमेर के चौहान, कन्नौज के गाहड़वाल और मालवा के परमार अपनी सत्ता थोड़े समय तक प्रतिष्ठित करने में सफल हो गए थे।

इन राजवंशों के पारस्परिक युद्व, दिन–रात का कलह तथा बढ़ते हुए विघटन से सामन्तवादी प्रथा को प्रोत्साहन मिला। निरंकुश एकतंत्र शासन प्रणाली के स्थापित होने से राजनीतिक चेतना और विदेशी आक्रमणकारियों से मुकाबला करने की शक्ति क्षीण होकर नष्ट होने लगी। इस युग में छोटे–छोटे शासकों के मध्य होने वाले ये युद्ध हमेशा ही किसी आवश्यकता के कारण नहीं होते थे। उनमें से अधिकांश का कारण केवल उन शासकों का शौर्य प्रदर्शन और पराक्रम दिखाना था। कहने का तात्पर्य यह कि केन्द्रीय सत्ता के अभाव में यह काल आपसी संघर्षों का काल था। भारत के उत्तर पश्चिमी सीमा पर लगातार मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का विकास भी इसी पृष्ठभूमि में हो रहा था। शासकों की आपसी लड़ाइयाँ, मुगलों के आक्रमणों का सामना, एकता का अभाव और राज्यों का बिखराव ही मान अपमान के प्रश्न बने। युद्धों ने देश को खोखला और जर्जर बना दिया। राजपूतों का उदय उस समय के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी। उनके, शौर्य और पराक्रम का वर्णन उस युग के साहित्य में हुआ है। उत्तरी भारत में राजपूतों के छोटे–छोटे राज्य थे। इनमें दिल्ली और अजमेर के चौहान, कन्नौज के राठौर बंगाल और बिहार के सेन,

गुजरात के बघेल या सोलंकी तथा बुंदेलखंड के चंदेल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 12वीं शताब्दी में चौहान वंश के नरेश विग्रहराज या बीसलदेव ने दिल्ली, झांसी तथा पंजाब के पूर्वी भाग पर तुर्कों से युद्ध किया तथा अपना राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। इन राजपूत शासकों के शौर्य का वर्णन चारण कवियों ने किया है। मुहम्मद गौरी और पृथ्वीराज चौहान की ऐतिहासिक युद्ध का विवरण पृथ्वी राज रासो में मिलता है। राजपूत शासकों की भांति बंगाल के सन् 800 ई. से 1020 ई. तक के पाल शासकों में भीम, जयपाल, आनन्दपाल आदि ने भी तुर्कों का सामना किया।

उस युग की राजनीतिक व्यवस्था में दो मुख्य बातें मिलती हैं—केन्द्रीय सत्ता का ह्रास और छोटे—छोटे राज्यों का उदय। राजनीतिक सत्ता का साहित्य के साथ क्या अंत : संबंध है तथा उसका प्रभाव किस रूप में साहित्य में फलित हुआ, इस बात पर ध्यान देना चाहिए। केन्द्रीय व्यवस्था के ह्रास से संस्कृति के संदर्भ में भी केन्द्रीयता का ह्रास हुआ। कला में स्थानीय संस्कृति का प्रभाव बढ़ने लगा। स्थापत्य में स्थानीय विशेषता से युक्त महल और मंदिर बनने लगे। इसका उदाहरण हमें मध्यप्रदेश में खजुराहो, उड़ीसा में भुवनेश्वर के मंदिर तथा दक्षिण भारत के मंदिरों में देखने को मिलता है। कला और स्थापत्य के संबंध में जितनी यह बात सच है, उतनी ही भाषा के संबंध में सच है। गुप्त युग और हर्ष युग की केन्द्रीय सत्ता के ह्रास के बाद संस्कृत भाषा की केन्द्रीयता भी समाप्त होती दिखाई पड़ती है। बोलचाल की भाषा में साहित्य रचना होने लगी थी। प्राकृत और अपभ्रंश भाषा को महत्व दिया जा रहा था। जिसका बाद में देशभाषा के विकास में व्यापक योगदान रहा। कहने का अर्थ यह कि केन्द्रीयता का टूटना मात्र सत्ता तक सीमित न हो सका अपितु उसका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्रों में दिखाई पड़ने लगा था। राजनीति के स्तर पर ही क्षेत्रीय अस्मिता का वर्चस्व नहीं बढ़ रहा था, भाषा के स्तर पर भी हिंदी, बंगला, उड़िया, असमिया आदि भाषा के निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ रही थी।

राजनीतिक परिदृश्य के संबंध में दूसरी जो महत्वपूर्ण बात थी वह आपसी संघर्ष से संबंधित थी। छोटे—छोटे राज्य आपसी प्रभाव वृद्धि के लिए परस्पर लड़ा करते थे। उसका असर भी साहित्य पर बड़े गहरे रूप में पड़ा। अब साहित्य रचने की पद्धति बदल गई। राजदरबारों में पांडित्य प्रदर्शन संस्कृत साहित्य की मूलभूत विशेषता थी, इसका ह्रास होने लगा था। साहित्य रचने के लिए अनुभव की जीवंतता अनिवार्य हो गई थी। चारण, युद्ध क्षेत्र में अनुभव प्राप्त करते थे इसलिए उनकी रचना में अनुभूति की वास्तविकता होती थी। वे भले ही उसका अतिरंजना पूर्वक वर्णन करते थे। इसीलिए हम देखते हैं कि राजनीतिक संगठन का प्रभाव केवल राजनीति तक सीमित नहीं होकर साहित्य को भी प्रभावित करता है। आदिकाल का रासो साहित्य इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

2.6.2 सामाजिक पृष्ठभूमि

विदेशियों के भारत आने पर भारतीय समाज में एक प्रकार की हलचल महसूस होने लगी। विदेशियों (मुसलमानों को छोड़कर) का हिंदू समाज में घुल मिल जाने से नई जातियों का उदय हुआ। राजपूतों का उदय कुछ इसी प्रकार से हुआ था। राजपूत के पास सत्ता होने से समाज में उनका दबदबा बढ़ा। ब्राह्मणों के वर्चस्व को थोड़ा खतरा महसूस हुआ। इसलिए उन्होंने वर्णवाद की कट्टरता को थोड़ा लचीला बनाकर राजपूत को क्षत्रिय की संज्ञा दी। ब्राह्मणों ने राजपूतों को नैतिक औचित्य प्रदान किया। इसका असर समाज पर भी बड़ा गहरा हुआ। दूसरे वर्गों और जातियों के लोग भी ब्राह्मणों के वर्चस्व को चुनौती देने की मुद्रा खड़े होने लगे। इसका जीवंत उदाहरण सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य में मिलता है। समाज में फैले कर्मकांड के प्रति तीखा विरोध इनके साहित्य में मिलता है।

इस युग में शिक्षा की व्यवस्था के अभाव में साम्प्रदायिक तनाव, सती—प्रथा, स्त्रियों की सुरक्षा के लिए पर्दा—प्रथा तथा विविध प्रकार के अन्ध विश्वासों का बोलबाला था। ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य, शूद्र – इन चारों वर्णों की प्रधानता थी तथा अनेक जातियों एवं उपजातियों में बँटकर भारत सामाजिक आदर्श खो चुका था। जाति–पाँति के बन्धन और अधिक कसते जा रहे थे। साधु–संन्यासियों के शाप और वरदानों के बीच सामान्य जनता आतंकित थी। निर्धनता, दुर्भिक्ष, निरंतर होने वाले युद्ध और महामारियों ने सामान्य जनता को संकट में डाल दिया था। आदिकाल के कवियों ने ऐसे ही परिवेश और वातावरण के अनुसार काव्य रचना की सामग्री का चयन किया। समाज की विषम परिस्थितियाँ जनता की रुचि के अनुकूल ही उस समय के साहित्य में प्रतिबिम्बित होने लगीं।

सामंती समाज में स्त्रियों की दशा में और भी गिरावट आई। एक सामंत कई स्त्री अपने साथ रखते थे। राजा के लिए स्त्री मात्र भोग का साधन थी। स्त्रियों का सामाजिक कर्तव्य पुरुष के भोग का साधन बनने तक सीमित था। नारियों को मानवीय गरिमा के अनुकूल अधिकार नहीं था। सामंतों ने नारी को उपभोग की वस्तु समझा। समाज की ऐसी मान्यताओं के प्रभाव से साहित्य भी अछूता नहीं रहा। जिस तरह धन संपत्ति के लिए युद्ध किए जाते थे। इसी प्रकार अब सुंदर नारी युद्ध का कारण हो गई। पृथ्वीराज रासो और बीसल देव रासो में कवि ने युद्ध का कारण ही सुंदर नारी का शत्रु के यहाँ से भागकर नायक के यहाँ आ जाने को परिकल्पित किया है। सामंतों का नारी के प्रति जो दृष्टिकोण था, उसका प्रभाव धर्म पर भी पड़ा। मंदिरों में देवदासियों की प्रथा शुरू हो गई। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म में तांत्रिक संप्रदाय का आरंभ हुआ। वज्रयानियों में ऊँच नीच कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ अनेक वीभत्स विधान का प्रारंभ हुआ। सिद्धों के साहित्य में तो ब्रह्मानंद को सहवास सुख के समान माना गया है।

2.6.3 आर्थिक क्रिया-कलाप

साहित्य और राजनीति, साहित्य और समाज के अंतः संबंधों पर चर्चा करने के उपरांत अब हम साहित्य और अर्थ व्यवस्था के बीच के संबंधों को समझने की कोशिश करेंगे। इस युग का समाज पूरी तरह कृषि आधारित समाज था। किसानों की पैदावार से ही हर छोटे–बड़े राज्य का पोषण होता था। राज्य के उच्च पदाधिकारियों और सरदारों को नकद वेतन नहीं मिलता था अपितु इन्हें जागीर दी जाती थी। ये सारे मध्यस्थ समुदाय खेती नहीं करते थे। बड़े ऐशो आराम से जीवन गुजारते थे। किसानों की पैदावार में राज्य का हिस्सा कभी–कभी 50 प्रतिशत तक होता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज दो वर्गों में बँटा हुआ था – उत्पादक और उपभोक्ता। उत्पादक वर्ग को समाज में हीन दृष्टि से देखा जाता था। क्योंकि वे श्रम करते थे। उपभोक्ता सुख से रहते थे इसलिए उच्च वर्ग से उनका संबंध था। कवि और चारण भी उच्च वर्गों के मनोनुकूल साहित्य की रचना करते थे। नखशिख वर्णन, षड्ऋतु वर्णन, विरह वर्णन और सौन्दर्य वर्णन इस काल के साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। लेकिन कृषक को साहित्य में कोई स्थान नहीं मिला है। धार्मिक साहित्य में भी कृषक जीवन की पीड़ा और संकट को अभिव्यक्त नहीं किया गया है। जबकि भक्तिकालीन साहित्य ने निम्न वर्ग और किसानों की पीड़ा को साहित्यिक अभिव्यक्ति दी है। इसी अर्थ में वह प्रगतिशील साहित्य है। भक्ति साहित्य ने व्यवस्था की सीमाओं से परे जाकर समाज के लिए स्वप्न देखा है।

मध्यकालीन समाज में आर्थिक गति–विधि के तौर पर व्यापार का ह्रास हो रहा था। व्यापार के पतन से नगर उजाड़ हो गए। भारत में उत्पादित वस्तुओं के लिए बाहर कहीं बाजार नहीं रह गया था। नगर में रहने वाले शिल्पी और वणिक लोग देहात चले गए। इससे कृषि पर और अधिक भार बढ़ गया। नगरों के ह्रास से अखिल भारतीय संपर्क सूत्र कमजोर हो गया था। व्यापार के विकास से जिस सामान्य संपर्क भाषा का विकास होता है, उस भाषा का विकास स्वाभाविकता से नहीं हो पाया। भाषा के सामान्य संपर्क और संचार के अभाव में भाषा का स्वरूप भी स्थानीय हो गया। इसीलिए प्रादेशिक विविधता साहित्य का आधार हो गई।

2.6.4 धार्मिक स्थिति

सम्राट हर्षवर्धन के समय ब्राह्मण और बौद्ध धर्मों का समान आदर था। यद्यपि हर्ष बौद्ध मतावलम्बी था और उसके समय में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार–प्रसार भी था, तो भी उसमें एक प्रकार की उदारता और धार्मिक सहिष्णुता थी। फलतः उसके समय में विभिन्न धर्मों में आपसी मेल–जोल था। इन धर्मों ने आपस में काफी आदान–प्रदान करते हुए समन्वय का उदाहरण भी प्रस्तुत किया। किन्तु राजनीति की तरह हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद धार्मिक स्थिति भी बदली। किसी केन्द्रीय सत्ता के अभाव में जब देश खंड राज्यों में विभक्त हो गया तो धीरे–धीरे धर्म के क्षेत्र में भी अराजकता फैल गयी। वेद–शास्त्रों के विधि–विधान और कर्म–काण्ड को लेकर चलने वाले ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म में भी संघर्ष होने लगे। विभिन्न धार्मिक संप्रदाय अपने पवित्र रूप को सुरक्षित न रख पाये तो विकृत होकर नये–नये रूपों में जनता के सामने आने लगे। परिणामतः आम आदमी धर्म के वास्तविक आदर्श को भूलकर जादू–टोने और तंत्र–मंत्र में विश्वास करने लगे थे। आम जनता सिद्धियों की भूल–भुलैया द्वारा दिग्भ्रमित हो रही थी। बौद्ध धर्म का विकास हीनयान, वज्रयान, मन्त्रयान, सहजयान आदि और शाखाओं में होने लगा था। बौद्ध धर्म की इन शाखाओं में मंत्र, तंत्र, हठयोग आदि के साथ पंच मकारों (मांस, मैथुन, मत्स्य, मद्य तथा मुद्रा) को भी विशेष स्थान प्राप्त होता जा रहा था। इनके बिना साधना अधूरी मानी जाती थी। स्पष्ट है कि अपने इस रूप में यह मत विकारों को प्रश्रय देने लगा था तथा वाममार्गी हो गया। तंत्र–मंत्र, जादू–टोने तथा भोग–विलास को लेकर चलने वाले ये वाममार्गी ही बौद्ध–सिद्ध कहलाए तथा दूसरी तरफ धर्म–नियम, संयम और हठयोग के द्वारा साधना के कठिन मार्ग पर बढ़ने वाले नाथ सिद्ध के रूप में जाने गए। पर अपने मूल रूप में ये दोनों ही बौद्ध थे जो धीरे–धीरे बौद्ध धर्म के विकृत या परिवर्तित रूप में ढलते चले गये।

आदिकालीन साहित्य की जब रचना हो रही थी उस काल में उत्तर भारत में तंत्रवाद का विकास हो रहा था। दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हो चुका था। उत्तर भारत में तंत्र संप्रदाय का फैलना धार्मिक दृष्टि से सबसे बड़ी घटना थी। पाँचवीं से सातवीं सदी में नेपाल, असम, बंगाल, उड़ीसा और बिहार में तांत्रिक साधनाओं का प्रचार हुआ। तंत्र मार्ग में स्त्री और शूद्रों दोनों के लिए द्वार खुला था। इसलिए जन सामान्य के बीच इसका प्रचार हो रहा था। तंत्र मार्ग मात्र बौद्ध धर्म तक ही सीमित नहीं था। जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव सभी संप्रदायों में तंत्रवाद का प्रभाव बढ़ रहा था। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि स्त्री और शूद्रों के प्रति सामान्य स्वीकृति बन रही थी। दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन विकसित हो रहा था। ये भक्त नयनार और आलवार थे। इन्होंने भक्ति और प्रेम का संदेश एक जगह से दूसरी जगह फैलाया। इन भक्तों में कुछ निम्न जाति के लोग, कुछ ब्राह्मण और कुछ स्त्रियाँ थीं। तंत्रमार्ग और भक्ति दोनों ने जातीय विषमता की जगह समानता के महत्व को प्रतिपादित किया। दक्षिण भारत में चन्नावासव लिंगायत शिव का पुजारी था। उसने जाति व्यवस्था का कड़ा विरोध किया। उसने जाति व्यवस्था, उपवास, प्रीतिभोज और बलिप्रथा को अस्वीकार किया। सामाजिक क्षेत्र में उसने बाल विवाह का विरोध किया और विधवा विवाह की अनुमति दी। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म आध्यात्मिक सरोकार से ज्यादा सामाजिक सरोकार था। हर जगह स्थापित जीवन मूल्यों और पंरपरावादी मतवादों पर प्रश्नचिन्ह खड़ा किया गया था। इसका प्रभाव नाथों और सिद्धों के साहित्य में दिखाई पड़ता है।

समाज में हिंदू दर्शन को पुनः प्रतिपादित करने वाले शांकर ने बौद्धिक स्तर पर जैन धर्म और बौद्धधर्म को सबसे भयंकर चुनौती दी। शांकर ने भक्ति की अपेक्षा ज्ञान के महत्व को प्रतिपादित किया। लेकिन उनका ज्ञानवाद जनसामान्य में प्रसारित नहीं हो सका। पश्चिमी भारत में व्यापारियों के बीच जैनधर्म लोकप्रिय था। पश्चिमी भारत में जैन धर्म का प्रसार हो रहा था। लेकिन बौद्ध धर्म का विकास अवरुद्ध हो गया था। जब बख्तियार खिलजी ने नालंदा पर आक्रमण किया तब बौद्ध धर्म मध्यभारत से लुप्त प्राय हो गया था।

2.6.5. मिश्रित सांस्कृतिक प्रक्रिया

सातवीं से बारहवीं शताब्दी का भारत एक मिश्रित संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया में था। मिश्रित कहने का अर्थ है कि अनेक धाराएँ उसमें आकर मिलीं और मिलकर लय हुईं। भारतीय संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति का संपर्क परस्पर बढ़ रहा था। प्रारंभ में ये दोनों संस्कृतियाँ एक–दूसरे के सामने प्रतिद्वन्द्वी में रूप में जमकर खड़ी होती हैं, पर जैसे–जैसे सत्ता में मुगलों का प्रभाव बढ़ता गया वैसे–वैसे इस्लाम संस्कृति का प्रभाव हिन्दू संस्कृति पर पड़ता गया । तत्कालीन कला और संस्कृति के क्षेत्र में परस्पर आदान–प्रदान को सहज ही देखा जा सकता है। कला के गतिमान और सर्जनात्मक रूप में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही थी। भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का मिश्रण हो रहा था। स्थापत्य में पहले से चली आ रही भारतीय विशेषताओं के साथ मुस्लिम स्थापत्य के मेहराब का सम्मिश्रण हो चुका था। स्थानीय स्थापत्य कला का भी मुस्लिम स्थापत्य से सहयोग बढ़ रहा था, उदाहरण के लिए राजपूताना शैली और गुजराती शैली का नाम गिनाया जा सकता है। संगीत के क्षेत्र के नये–नये वाद्य यंत्रों और नए रागों का प्रचलन बढ़ रहा था। सारांश यह कि भारतीय संस्कृति के समावेशी तत्व का विकास हो रहा था।

2.7 आदिकालीन साहित्य का वर्गीकरण

आदिकालीन साहित्य के निर्धारण के संबंध में आपने इस इकाई के बिन्दु 2.4 में जानकारी प्राप्त की। आदिकाल में जो साहित्य उपलब्ध होता है उसमें भाषा और प्रवृत्ति दोनों ही दृष्टियों से वैविध्य पाया जाता है। इस काल के साहित्य में धार्मिक, शृंगारिक, वीररस–प्रधान आदि अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए हम आदिकालीन साहित्य को निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :–

(क) सिद्ध साहित्य ⎤
(ख) नाथ साहित्य ⎬ धर्म संबंधी साहित्य
(ग) जैन साहित्य ⎦
(घ) रासो काव्य
(ङ) लौकिक साहित्य
(च) गद्य रचनाएँ

हिन्दी कविता का प्रारंभिक प्रारूप भारत में सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। सिद्धों का संबंध बौद्ध धर्म से था। बौद्ध धर्म कालांतर में तंत्रवाद में परिवर्तित हो गया। वज्रयान इसी प्रकार की साधना थी। सिद्ध व्रजयानी थे। वज्रयानी साधना, वाममर्गी साधना थी। इसमें पूजा पाठ के स्थान पर रहस्य और गुप्त साधना का प्रचलन था। सिद्धों ने अपने साहित्य में कायायोग, सहज शून्य तथा समाधि की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं का वर्णन किया है। दूसरे शब्दों में कहें तो इन सिद्धों ने स्थापित मान्यताओं का विरोध किया है। उनके विरोधी तेवर का नतीजा मात्र साधना के ही स्तर पर प्रकट न होकर सामाजिक मान्यताओं के स्तर पर भी प्रतिफलित हुआ है। सिद्ध साहित्य का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनका विरोध मात्र सामाजिक संस्था के स्तर पर नहीं दिखाई देता अपितु उसी विद्रोही प्रवृत्ति का प्रभाव साहित्यिक अनुभूति और भाषा की अभिव्यंजना में भी सर्वत्र प्राप्त होता है। वे जो कुछ कहना चाहते थे उसे सीधे अर्थ में कहने से उस व्यवस्था से विरोध प्रकट होता था जिसे उस समय के समाज ने निर्मित किया था। व्यवस्था से सीधा टकराना उन योगियों के लिए आसान नहीं था। अतः उन्होंने अर्थ को कभी उलटकर कभी, छुपाकर प्रकट किया, जिससे उनका मंतव्य भी स्पष्ट हो जाए और व्यवस्था से सीधा टकराव भी हो।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सिद्धों की कविता को हिन्दी साहित्य में स्थान नहीं दिया था लेकिन हिन्दी के प्रारंभिक रूप का पता उन्हें सिद्धों की रचनाओं में मिलता है। इन दोनों बातों में एक प्रकार का विरोधाभास है। आचार्य शुक्ल यदि सिद्धों को साहित्य लोकमर्यादा विरोधी है, उनमें जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियाँ नहीं है। लेकिन ध्यान से देखा जाए तो यह सिद्धों के विद्रोही तेवर का ही नतीजा है कि वे लोकजीवन के यथास्थितिवाद का भी विरोध करते हैं और भाषा के स्तर पर उनका वही विद्रोह प्रतिफलित होता है। उन्होंने अपभ्रंश की साहित्यिक भाषा को छोड़कर जनता की भाषा को अपनाया। सिद्धों के साहित्य की विशेषताओं की विस्तृत चर्चा हम अगली इकाई में करेंगे।

नाथ संप्रदाय का प्रारंभ सिद्धों के थोड़े समय बाद हुआ। नाथ पंथ की दार्शनिकता का आधार शैव मत है और व्यवहार में उन्होंने पतंजलि के हठयोग को अपनाया है। इन्हीं कुछ आधारों पर उन्होंने अपने संप्रदाय को सैद्धान्तिक रूप दिया है। सिद्धों की वाममार्गी साधना के विपरीत उन्होंने मद्यमांस त्याग तथा मानसिक शुचिता पर बल दिया है। सिद्धों ने साधना को विकृत बना दिया था लेकिन नाथपंथियों ने उसे फिर से जनता के लिए संभव बनाने पर जोर दिया। इड़ा–पिंगला, नाद–बिंदु की साधना, षटचक्रभेदन, शून्य चक्र में कुंडलिनी का प्रवेश आदि नाथों की अंतर साधना के मुख्य अंग हैं। नाथ साहित्य में दो महत्वपूर्ण बातों की ओर ध्यान जाता है। पहली यह कि नाथ साहित्य में धर्म निरपेक्ष दृष्टि दिखाई देती है। इसमें ईश्वर से मिलाने वाला योग हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में प्रस्तुत हुआ है। नाथपंथ में धार्मिक कट्टरता नहीं मिलती है। दूसरी जो महत्वपूर्ण बात नाथ साहित्य के संदर्भ में कही जा सकती है, वह यह कि नाथों के साहित्य में यायावरी साहित्य का गुण मिलता है। नाथ जोगी अपने धर्म प्रचार के लिए विभिन्न प्रदेशों की यात्रा करते थे। देश के मध्य भाग तथा पश्चिमी भाग में वे घूमते रहते थे। यात्रा में विभिन्न प्रदेशों की संस्कृति, भाषा और व्यवहार से परिचय होता है। यह प्रभाव उनकी भाषा पर भी पड़ा। नाथों ने धर्म के स्तर पर ही सहिष्णुता और आपसी सद्भाव की भावना विकसित नहीं की, भाषा के स्तर भी उन्होंने इस भाव को अर्जित किया। इसी भाषा की प्रस्तावना बाद के निर्गुण साहित्य में भी मिलती है। कबीर आदि ने इसी प्रकार की भाषा को अपनाया। नाथों की भाषा का महत्व परवर्ती साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में समझा जा सकता है। सैद्धांतिक और रहस्यवादी आग्रहों को छोड़कर केवल उनके साहित्य की स्वाभाविकता को भी ध्यान में रखा जाय तो परवर्ती भक्तिकाल के संत साहित्य पर नाथों का बहुत बड़ा ऋण है। जो एक कमजोरी नाथों के साहित्य में प्राप्त होती है, वह है, गृहस्थ जीवन के प्रति उनमें उपेक्षा का भाव। इसलिए लोक जीवन की वास्तविक अनुभूतियों और स्वाभाविक दशाओं का वर्णन उनके साहित्य में नहीं मिलता है। नाथ साहित्य का व्यापक योगदान संतसाहित्य की परंपरा को अपना उत्तराधिकार सौंपने में है।

जैन साहित्य की अधिकांश रचनाएँ अपभ्रंश साहित्य के अंग हैं। जिनके बारे में आप अगली इकाई में पढ़ेंगे। लेकिन कुछ साहित्य अवश्य ऐसे हैं, जिन्हें हिंदी भाषा और साहित्य की रचना कहा जा सकता है। इन रचनाओं में कुछ का उल्लेख किया जा सकता है। शालिभद्र सूरि की रचना "भरतेश्वर बाहुबली रास (1884 ई.), असुग की कृति "चंदनबाला रास" (1200 ई.) जिनधर्म सूरि कृत "स्थूलिभद्र रास" (1209 ई.), विजय सेन सूरि की रचना "रेवन्तगिरिरास" (1231 ई.), सुमतिगण का "नेमिनाथ रास" जैसी कुछ साहित्यिक कृतियों को हिन्दी साहित्य में स्थान मिलना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि जैन रचनाओं के अध्ययन की क्या आवश्यकता है। प्रारंभिक हिंदी रचनाओं की सृजनात्मक अनुभूति को समझने के लिए जैन साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है क्योंकि जैन साहित्य उस हिंदी का अभिन्न अंग है। आचार्य शुक्ल अवश्य धार्मिक साहित्य के आधार पर जैन ग्रंथों को हिंदी से बाहर रखना चाहते हैं। धार्मिकता साहित्यिक संवेदना का अवरोधक तत्त्व नहीं है नहीं तो भक्तिकाल हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग नहीं होता। प्रश्न केवल यह उठता है कि यह साहित्य अपने दृष्टिकोण में कितना प्रगतिशील है। धार्मिक मतवाद के बीच यह तलाश करने की आवश्यकता होती है कि उनमें मानवीय अनुभूतियों का कितना गहरा स्पर्श है। उसमें सामाजिक बोध और मानवीय गरिमा को पाने की क्षमता किस हद तक है। धार्मिक परत को हटाने के बाद उस साहित्य से जीवन का सौन्दर्य मिलता है या नहीं।

यही हमारे साहित्यिक संवेदना को परखने तक आधार हो सकता है। भारतीय साहित्य में "महाभारत" जैसे महाकाव्य में धार्मिक जटिलता है लेकिन इसके साथ उसमें हमें मानवीय सच का गहरा बोध भी मिलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानवीय अनुभूति ही साहित्य का आधार है। इसी से कलाकृति का सामाजिक मूल्य और जीवन मूल्य पहचाना जाता है। आदिकाल की परिधि में जो जैन साहित्य आता है उसमें धर्म मात्र प्रेरणा का विषय है। जैन साहित्य में भावों की जटिलता को मनोवैज्ञानिक रूप में चित्रित किया गया है। मानव के विविध भावों के बीच जो अंतर्द्वन्द्व चलता है, उसका सूक्ष्मता से विश्लेषण मिलता है।

आदिकालीन साहित्य की एक विशेष प्रवृत्ति 'रासो साहित्य' है। सामान्यतया रासो काव्य से वीरगाथात्मक काव्य का बोध होता है। रासो काव्य की एक विशिष्ट परंपरा इस युग में मिलती है। रासो साहित्य की रचना भट्ट और चारणों द्वारा की गई है। रासो काव्य और अपभ्रंश के रास काव्य, के बीच कोई संबंध रहा है या नहीं इस पर विद्वानों में विवाद है। रासो और रास काव्य के बीच थोड़ा भेद है। रासो काव्य धारा ने जहाँ जीवन के युद्ध और प्रेम के पक्षों तक अपनी संवेदना को सीमित रखा, वहीं रास काव्य में जीवन के विविध पक्षों का चित्रण मिलता है। पं. नरोत्तम स्वामी के अनुसार रास और रासों में अंतर अंत तक बना रहा है। वे रास को मूलतः प्रेम काव्य मानते हैं। तथा रासो काव्य को वीर काव्य मानते हैं। उनके अनुसार रास के उदाहरण "संदेश रासक" तथा रासो के "पृथ्वीराज रासो" या "कटहिया कौ रासो" हैं। वस्तुतः विषय वस्तु की दृष्टि से और काव्य शैली की दृष्टि से दोनों काव्यों में समानता हो सकती है। अब रासो और रास के अर्थ एक विशेष प्रकार के काव्य के लिए रूढ़ हो गए हैं। रास काव्य में जैन कवियों द्वारा लिखे हुए रासक ग्रंथ और "संदेश रासक" जैसे काव्य आते हैं। रासो काव्य में चारणों द्वारा लिखे गए वीरता की भावना से भरे हुए काव्य को स्थान दिया जाता है। साहित्य किस प्रकार से संरक्षित हुआ होगा, बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए जैन साहित्य की प्रामाणिकता असंदिग्ध है क्योंकि धार्मिक संरक्षण के कारण इसकी पांडुलिपि मठों में पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रह सकी। रासो साहित्य की रचना चारणों द्वारा होती थी जो राजाश्रय में रहते थे। राजाओं के आपसी संघर्ष में स्वयं राजाओं का टिकना संभव नहीं हो पा रहा था, तब उनके द्वारा संरक्षित साहित्य कितनी सुरक्षा पा सकता था, यह सोचने की बात है। चारणों ने उसमें कई फेर बदल किए। लोककंठ में तो परिवर्तन अवश्यंभावी है ही। अतः केवल प्रामाणिकता के आधार पर रासो साहित्य को त्यागने की अपेक्षा उनके सारभूत तत्व को ग्रहण करना अधिक महत्वपूर्ण है। इसीलिए तो आचार्य शुक्ल ने लिखा था "जो कुछ पुराने काव्य–जैसे बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो–आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है।"

रासो साहित्य की रचना जनमानस की सहज अभिव्यक्ति का परिणाम नहीं है। रासो साहित्य सामंती समाज की उपज है। इसलिए रासो साहित्य के कथानक की बनावट भी सामंतों के मनोनुकूल ही हुई है। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में सामंतों की क्षेत्रीय ताकत के बीच अधिक संघर्ष हुए थे। रासो साहित्य उसी की कहानी कहता है। उसमें से कवि ने प्रेम प्रसंग की संभावना के लिए जगह खोज ली है।

रासो काव्य परंपरा में दूसरे प्रकार की रचना वीरगीत के रूप में मिलती है। बीसलदेव रासो और परमाल रासो वीरगीत हैं। गेय काव्य की यह विशेषता है कि उसका निवास लोक कंठ में होता है। वह लोककंठ में ही पीढ़ी दर पीढ़ी जीती रहती है। लोक काव्य लोक जीवन के कितना निकट होता है इसका प्रमाण परमाल रासो में मिलता है। यह काव्य जनमानस की स्मृति में अभी भी बना हुआ है। समय प्रवाह में भाषा बदल गई, अर्थ बदल गए लेकिन भाव ज्यों के त्यों बने हुए हैं। आज भी आल्हा गाने वाले आल्हा की धुनों पर झूमते हुए मिल जायेंगे।

आदिकाल में साहित्य धार्मिक साहित्य और चारणों की रचनाओं तक ही सीमित नहीं था। उस समय लोक साहित्य की क्षीण धारा भी सक्रिय थी। जो सही अर्थ में देशभाषा काव्य थी।

लौकिक साहित्य तीन क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं – राजस्थान, दिल्ली और मिथिला। इन तीन क्षेत्रों के साहित्य में उस काल की लोक संवेदना की थोड़ी बहुत झाँकी मिल सकती है। इस साहित्य के अंतर्गत भक्ति तथा श्रृंगार को लेकर काव्य रचना की गई। जनता के मनोरंजन हेतु झाँकियों तथा पहेलियों का सृजन किया गया। उनके अतिरिक्त इस युग में सामान्य व्यक्ति को काव्य का नायक बनाकर धनपाल नामक जैन कवि ने नवीन प्रवृत्ति का प्रारंभ भी किया। इन सभी कृतियों तथा रचनाओं के संबंध में आप इकाई – 4 में अध्ययन करेंगे।

आदिकाल में पद्य रचनाओं के साथ कुछ–कुछ गद्य रचनाएँ भी होती रही थीं। लेकिन गद्य में उस वास्तविकता का वर्णन नहीं है जिसमें जीवन की यथार्थता को रचने की शक्ति होती है। आदिकाल में जो गद्य मिलता है वह व्याकरण और शास्त्र की सीमाओं में खंडन–मंडन तक ही सीमित है। इस काल की तीन उल्लेखनीय गद्य रचनाएँ हैं – रोडा की कृति "राहुल खेल" दामोदर भट्ट की कृति "उक्ति व्यक्ति प्रकरण" और ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्णरत्नाकर'।

2.8 सारांश

इन इकाई में आपने आदिकाल की पृष्ठभूमि का अध्ययन किया। इस इकाई में हमने चर्चा की कि किन बिन्दुओं पर आदिकाल और अपभ्रंश साहित्य अलग होता है। यह रूपांतरण मात्र भाषा के धरातल पर ही नहीं होता अपितु संवेदना के धरातल पर भी होता है। अपभ्रंश भाषा और साहित्य ने हिन्दी साहित्य को कई तरह से प्रभावित किया। संस्कृत, अपभ्रंश तथा देशी भाषाओं के इस युग में ही हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ हो रहा था। इस युग के साहित्य को प्रभावित और नियंत्रित करने में आदिकालीन परिवेश का बहुत बड़ा योगदान था। युग की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए इस विषय पर हमने विस्तार से चर्चा की। इकाई में आपने आदिकाल के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों की जानकारी भी प्राप्त की। मध्य भारत, पूर्वी भारत, पश्चिमी भारत और दक्षिणी क्षेत्रों में आदिकालीन हिन्दी साहित्य, रूप और संवेदना में अलग था। पूर्व में यदि सिद्धों की रहस्यात्मक वाणी का आभास मिलता है तो पश्चिमी भारत में चारण कवियों द्वारा लिखा गया रासो साहित्य। मध्य भारत में नाथों की वाणी और अमीर खुसरो का लोकरंजन प्रधान साहित्य दिखाई देता है। वास्तव में आदिकालीन साहित्य भाषा की प्रवृत्तिगत विविधता से भरा हुआ है। इस साहित्य का विस्तृत अध्ययन आप इस खंड की इकाई सं० 3 एवं 4 में करेंगे।

2.9 अभ्यास प्रश्न

1 अपभ्रंश के स्वरूप और विकास की चर्चा कीजिए।

2 हिन्दी भाषा के विकास का परिचय देते हुए अपभ्रंश और हिन्दी के बीच का अंतर स्पष्ट कीजिए।

3 आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि पर चर्चा करते हुए बताइए कि उस युग की परिस्थितियों से उस समय का साहित्य कैसे प्रभावित हुआ।

इकाई 3 सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

यह इकाई आदिकालीन साहित्य से संबंधित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे;
- सिद्ध, नाथ और जैन रचनाकारों की धार्मिक अनुभूतियों से अलग आप उनकी साहित्यिक अनुभूतियों से परिचित हो सकेंगे;
- हिंदी साहित्य के इतिहास के उन विवादों से भी आपका साक्षात्कार होगा जिनके आधार पर सिद्ध नाथ और जैन साहित्य को धार्मिक घोषित किया गया था; और
- साहित्य के इतिहास के संदर्भ में सिद्ध नाथ और जैन साहित्य की प्रासंगिकता की चर्चा कर सकेंगे;

3.1 प्रस्तावना

इकाई–2 में आदिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि और आदिकालीन साहित्य के वर्गीकरण पर चर्चा की गई है। इस इकाई में हम सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य को विस्तार से समझने की कोशिश करेंगे।

सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य पर चर्चा करने से पूर्व यह समझने की आवश्यकता है कि किन सामाजिक परिस्थितियों के बीच भारतीय समाज में सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य का विकास हुआ था। वस्तुतः भारतीय समाज में रूढ़िवादी विचार परंपरा के विरुद्ध समय–समय पर व्यापक लोकजीवन विद्रोह करता रहा है और नये विचारों को प्रस्तावित करता रहा है। जनशक्तियाँ समाज में संगठित होती रही हैं और रूढ़िवादी परंपरा के वर्चस्व को चुनौती देती रही हैं। वास्तव में सिद्ध, नाथ और जैनियों का धार्मिक विद्रोह इसी बात को प्रमाणित करता है। यहाँ एक बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि सिद्ध, नाथ और जैन का विद्रोह मात्र धार्मिक होकर रह जाता तब तो साहित्य के इतिहास में उसकी चर्चा की आवश्यकता ही नहीं होती, परंतु इस विद्रोह का प्रसार जीवन और समाज के दूसरे क्षेत्रों में भी दिखाई पड़ता है। सिद्ध, नाथ और जैन साधकों द्वारा लड़े गऐ वैचारिक संग्राम से साहित्य भी अछूता नहीं रहा है। साहित्य में जनभाषा की प्रतिष्ठा के लिए सिद्ध, नाथ और जैन रचनाकारों ने व्यापक संघर्ष किया। नाथ–सिद्ध और जैन साधक घोषित रूप में रचनाकार नहीं थे। कवि कर्म उनका पेशा नहीं था। वे तो सामाजिक विषमता के खिलाफ आवाज उठा रहे थे। इसी प्रक्रिया में वे अपने अनुभव को अभिव्यक्त कर रहे थे। उनके साहित्य में जीवनगत अनुभवों का सजीव चित्रण होने के साथ–साथ धार्मिक विश्वासों का वर्णन भी मिलता है। सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य के संदर्भ में इन महत्वपूर्ण मुद्दों का हम इस इकाई में विश्लेषण करेंगे।

3.2 सिद्धों का परिचय

सिद्ध वज्रयानी थे। वज्रयान बौद्ध धर्म की एक शाखा थी। ईसा की आरंभिक सदी में बौद्धधर्म का दो भागों में विभाजन हो गया। ये दो पंथ हीनयान और महायान नाम से प्रसिद्ध हुए। हीनयान ने पारंपरिक रूप में बौद्ध सिद्धांत को अपनाया और महायान ने उसमें कुछ मौलिक परिवर्तन कर अपने पंथ का आधार तैयार किया। महायान में बोधिसत्व के गुणों का मानवीकरण हुआ। बोधिसत्व की परिकल्पना देवता और देवियों के समानांतर की गई। महायान संप्रदाय में जटिल कर्मकांड का विकास हुआ जो नवीन ऐन्द्रजालिक रहस्यवाद से संबद्ध था। इस प्रकार महायान में भी एक नवीन संप्रदाय का उदय हुआ। इस नवीन संप्रदाय ने ऐन्द्रजालिक शक्तियों को प्राप्त करना अपना उद्देश्य बनाया। इस शक्ति को वे वज्र कहते थे, अतएव बौद्ध धर्म के इस नवीन संप्रदाय का नाम वज्रयान पड़ा। इस संप्रदाय का प्रसार देश के पूर्वी भागों में अधिक था। असम, बिहार, बंगाल और नेपाल, सिद्धों के कार्य क्षेत्र थे। इस संप्रदाय के चौरासी सिद्धों की सूची उपलब्ध है। उसमें आदि सिद्ध सरहपा को स्वीकार किया गया है। यद्यपि विद्वानों में इस पर विवाद है। सिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा और कुकरीपा का नाम प्रमुख है।

वास्तव में, धर्म साधना का विकास बहुत कुछ सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। वज्रयानकालीन समाज विषमताओं से भरा हुआ था। उस समाज में सामंतों का वर्चस्व था। उच्च वर्ग के वेदाध्ययन को ही शिक्षा के रूप में स्वीकार किया जाता था। स्त्री और शूद्र इससे वंचित थे। तांत्रिक साधना में स्त्री और शूद्रों के लिए भी उपासना सुलभ थी, इसलिए तांत्रिक साधना का प्रसार मात्र बौद्ध धर्म तक सीमित नहीं रह गया। उसका प्रसार जैन धर्म और हिंदू धर्म में भी

हुआ। तांत्रिक साधना ने समाज में व्यापक जनसमूह के ज्ञान को एक दूसरी परंपरा से जोड़ दिया। यह परंपरा वस्तुतः अनुभव की परंपरा थी, जिसमें पोथी के ज्ञान को अधूरा माना गया था। बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के बीच तांत्रिक साधना के आदान–प्रदान का अनिवार्य परिणाम बौद्ध धर्म के ह्रास के रूप में दिखाई पड़ता है। यह ह्रास की प्रक्रिया वज्रयान के उदय के साथ ही शुरू होती है। तांत्रिक पद्धति ने हिंदू और बौद्ध धर्म के भेद को कम कर दिया। शक्तिपीठ हिंदू और बौद्ध के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण धार्मिक स्थान हो गए। इस प्रकार बौद्ध धर्म और हिंदू धर्म के बीच का अंतर समाप्त होता गया।

3.3 सिद्ध साहित्य

सिद्ध साहित्य से हमारा तात्पर्य वज्रयान परंपरा के उन सिद्धाचार्यों के साहित्य से है, जो अपभ्रंश के दोहे तथा चर्या पद के रूप में उपलब्ध है। वस्तुतः सिद्धों ने अपनी साधना का लक्ष्य ज्ञान को न मानकर अनुभूति को माना है। तंत्र से प्रभावित होकर उन्होंने अपने समस्त ज्ञान, साधना पद्धति, हठयोग को अनुभूति के रंग से रंग दिया। उसके पीछे सिद्धों का उद्देश्य था –बौद्ध धर्म के निवृत्तिमूलक दुःखवादी रूप का निराकरण करके आनंद की भावना की प्रतिष्ठा। आनंद को सिद्धों ने आध्यात्मिक गहनता माना है। इसके लिए जिस शब्दावली का उन्होंने प्रयोग किया है, वह लौकिक अर्थ में प्रणय के घनिष्ठ चित्र हैं।

3.3.1 साहित्य में प्रणय के प्रसंग

सिद्धों ने बौद्ध परंपरा में चली आती हुई निर्वाण भावना का तिरस्कार कर महासुख की अनुभूति को प्रमुखता प्रदान की। बौद्ध धर्म में निर्वाण के तीन अवयव ठहराए गए हैं – शून्य, विज्ञान और महासुख। वज्रयान में महासुख का प्रवर्तन हुआ। वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास सुख के समान बताया गया है, इसलिए सिद्धों के साहित्य में प्रणय के प्रसंग अधिक हैं। हो सकता है, सिद्धों के इस प्रणय का गहन आध्यात्मिक अर्थ हो, लेकिन उन्होंने जिस लौकिक शब्दावली में व्यक्त किया है, वह भी साहित्य के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है। कण्हपा के डोम्बी गीत में डोम्बी के प्रति कपाली का प्रेम निवेदन बहुत ही संवेदनशील है। कण्हपा जब डोम्बी नारी का चित्रण करते हैं तो उसमें लोकजीवन की डोम्बी नारी का यथार्थ चित्र उपस्थित हो जाता है। यह डोम्बी अन्य डोम्बी नारियों की भांति नगर के बाहर कुटिया में रहती है। वह नृत्य में कुशल है। वह नौका पर चढ़कर नदी पार कर नगर के हाट में अपना समान बेचने जाती है। वह तंत्री मालाएँ तथा हाथ की बुनी हुई टोकरियाँ बेचती है।

> नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ।
> छोइ जाइ सो बाह्य नाड़िया।
> आलो डोंबि? तोए सम करिब म साँग। निघिण कण्ह कपाली जोई लाग।।
> एक्क सो पदमा चौषट्टि पाखुड़ी। तढि चढि नाचअ डोंबी वापुड़ी।।
> हालो डोंबी? तो पुछिम सदभावे। अइसरि जासि डोंबी कहरि नावें।।

इसमें 'कमल चौसठ पाखुड़ी' के ऊपर डोम्बी के नाचने का आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है लेकिन लौकिक अर्थ का सौंदर्य भी इसमें व्याप्त है। कण्हपा बार–बार अपने दोहे में गृहिणी का वर्णन करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि जैसे नमक पानी में घुल जाता है, उसी प्रकार गृहिणी को अपने चित्त में धारण करो। इस प्रकार कण्हपा गृहस्थ और गृहिणी की अद्वैत अनुभूति का संकेत करते हैं। इसका रहस्यात्मक अर्थ अलग हो सकता है। रहस्यात्मक अर्थ में गृहिणी की प्रज्ञा महामुद्रा है जिसे साधक (गृहस्थ) अपने चित्त में धारण करना चाहता है। इन काव्यों के रहस्यात्मक अर्थ चाहे सिद्धों का अभिप्राय रहे हों लेकिन आज उनकी प्रासंगिकता लौकिक अर्थ के कारण ही होगी।

सिद्ध साहित्य के प्रणय प्रसंगों में लोकजीवन के चित्र जो आए वे बड़े ही मौलिक हैं। उनमें जिस बिंब का प्रयोग हुआ है, वे भी सर्वथा नए हैं। शबरपा एक शबरी बालिका वर्णन करते हैं। इसमें शबरी बालिका का भोला–भाला चित्र है। वह प्रकृति की अबोध बालिका की तरह संसार से दूर ऊँचे पर्वत पर रहती है। वह मोर पंख से श्रृंगार करती है। वह गुंजमाला से अपने अंगों को सजाती है। घने तरुओं के बीच वज्रकुंडल पहनकर घूमती है। इसमें जिस प्रकार की अबोध बालिका वर्णन है वह शास्त्रीय शब्दावली में मुग्धा नायिका है। इसमें प्रकृति के वर्णन तथा नायिका के वर्णन में एक मासूमियत है। यह मासूमियत शास्त्रीय साहित्य की नायिका के रूप–वर्णन से अलग है। उसमें सामंती साहित्य के नायक–नायिका की तरह उपभोग का वर्णन नहीं है। नायिका को मात्र विलास की वस्तु नहीं समझा गया है। इस वर्णन को पढ़कर ऐसा अनुभव होता है कि सिद्ध रचनाकारों ने उस दलित और पीड़ित वर्ग को अपने साहित्य में स्थान दिया जो समाज में हाशिए पर थे। जिनका वर्णन अभिजात साहित्य में आवश्यक नहीं समझा जाता था। डोम्बी और शबरी का वर्णन कुछ उसी प्रकार का है। समाज के निम्न स्तर पर जी रहे लोगों को सिद्धों ने अपना काव्य–नायक बनाया। यह साहित्य के इतिहास में सिद्धों का क्रांतिकारी योगदान है।

3.3.2 रूढ़िवादी मानसिकता का खंडन

सिद्धों के साहित्य में दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति खंडन की प्रवृत्ति है। सरहपा, मिट्टी, पानी और कुश लेकर संकल्प करने वाले, घर में बैठकर अग्नि होम करने वाले, होम के कड़ुए धुएँ से आँख को कष्ट देने वाले की हँसी उड़ाते हैं। कण्हपा ने भी यही चर्चा अपनी रचना में की है। उनका कथन है :

आगम वेअ पुराणेहिं पंडिअ मान वहन्ति
पक्क सिरीफले अलिअ जिम बाहेरी अभ्यन्ति

अर्थात् पंडित लोग आगम वेद और पुराण पढ़कर मान करते हैं। पर तत्व की बात समझने का प्रयत्न नहीं करते। यह उसी प्रकार का प्रयत्न है जैसे पके बेल के चारों ओर भौंरा चक्कर लगाता रहता है।

सिद्धों की रचनाओं में परंपरागत सामाजिक अनुशासन के प्रति उपेक्षा का भाव है। सिद्धों ने वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया और पंडितों के कर्मकांड की जमकर आलोचना की। उस समय का समाज जातिवाद के दुष्चक्र से पीड़ित था। समाज में निम्न श्रेणी के लोगों को सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार नहीं था। ऐसी विषम परिस्थिति में सिद्धों ने नये प्रकार के सामाजिक विकल्प को पाने का प्रयत्न किया। उन्होंने सामंती प्रणाली के अभ्यस्त समाज की जगह नये शोषणमुक्त समाज की परिकल्पना की।

3.3.3 सिद्धों का विद्रोह और हिंदी भाषा का विकास

आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'इस प्रकार अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी में रचना होने का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी में मिलता है। उस काल की रचना के नमूने बौद्धों की वज्रयान शाखा के सिद्धों की कृतियों के बीच मिलते हैं।' आचार्य शुक्ल बौद्धों, सिद्धों की रचनाओं से हिंदी भाषा का प्रारंभ मानते हैं परंतु वे बौद्ध–सिद्धों की रचनाओं को स्वाभाविक साहित्य में स्थान देने के पक्षधर नहीं हैं। उन्होंने साहित्य के इतिहास में दूसरी जगह यह लिखा है कि 'उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।' आचार्य शुक्ल के इन दोनों वक्तव्यों में अंतर्विरोध है। वे साहित्य को भाषा और अनुभूति की दो अलग–अलग श्रेणियों में बाँटकर देखना चाहते हैं। उन्हें हिंदी भाषा का विकास तो सिद्धों की रचनाओं से

मिलता दिखाई देता है, लेकिन अनुभूति के धरातल पर सिद्धों से उनका विरोध हो जाता है। वस्तुतः सिद्धों का विद्रोही तेवर ही समाज में जहाँ पांडित्य परंपरा पर चोट करता है वहीं भाषा में भी पांडित्य परंपरा पर प्रहार करता है। सिद्धों की विद्रोही अनुभूति को अपभ्रंश की रूढ़ होती हुई भाषा में नहीं रचा जा सकता था, इसलिए सिद्धों के लिए एक नई भाषा की तलाश अनिवार्य हो गई थी। सिद्धों का प्रोटेस्ट भाषा और समाज दोनों धरातल पर एक विकल्प की रचना करता है। सिद्धों के प्रतिरोध को पहचानने के बाद उनकी अनुभूति और भाषा का स्तर अलग–अलग दिखाई नहीं पड़ता अपितु उनकी अखंड चेतना का ही एक प्रतिरूप जान पड़ता है। कुछ उसी प्रकार जैसे सिद्धों के काव्य में कई स्थल ऐसे आते हैं जहाँ सिद्ध भाव साधना में गाते–गाते नीति का उपदेश करने लगते हैं और नीति का उपदेश देते–देते भाव विभोर हो जाते हैं।

3.3.4 सिद्धों के साहित्य में अभिव्यंजना

सिद्धों की काव्यानुभूति को समझने के बाद उनकी भाषा को भी समझना अनिवार्य होगा। सिद्धों ने अपनी दार्शनिक अनुभूति को अभिव्यंजित करने के लिए प्रतीक भाषा का प्रयोग किया है। उस प्रतीक विशेष को समझे बिना हम उनकी दार्शनिक अनुभूति को समझ ही नहीं सकते। इस भाषा को पं. महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने संधा भाषा कहा है। इस भाषा की शैली धूप–छांव की शैली है। इस भाषा में शब्द के बाहरी अर्थ और आंतरिक अर्थ अलग–अलग हैं। शब्दों की इसी द्वयार्थक प्रकृति का परिचय संधा भाषा में मिलता है। वस्तुतः संधा भाषा संश्लिष्ट अनुभूति की भाषा थी। जिसमें शब्दों का एक अर्थ लोकानुभव से संबद्ध है तो दूसरा अर्थ दार्शनिक अनुभूतियों की व्यंजना करता है। इसमें लौकिक अर्थ कभी–कभी लोकविरुद्ध भी होते थे। इसे सामान्यतया उलटबाँसी के रूप में समझा जाता है। एक उदाहरण लेते हैं : तंतिपा कहते हैं–

बेंग संसार बाड़हिल जाअ। दुहिल दूध के बेटे समाअ।
बलद बिआएल गविआ बाँझे। पिटा दुहए एतिना सोंझे।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी। जो सो चोर सोइ साधी।
निते निते पिआला षिहे षप जूझअ। ढंढपाएर गीत बिरले बुझअ।

इस पद में शब्द से जो सामान्य अर्थ निकलते हैं, वे प्राकृतिक रूप में लोकजीवन में संभव नहीं हैं। इसमें एक प्रकार का चमत्कार है। सीधा अर्थ यह है कि मेंढक साँप से नहीं डरता है, दुहा हुआ दूध गाय के स्तन में समा जाता है। बैल बछड़े का प्रसव करता है, वह गाय बाँझ हो जाती है जिसे तीनों साँझ दुहा जाता है। जो चोर है वही कोतवाल भी। ये सभी बातें प्राकृतिक रूप से लोक जीवन में घटित नहीं होतीं। इस पद में एक प्रकार का विस्मय है। इसमें से कुछ प्रतीकों का दार्शनिक अर्थ इस प्रकार से किया जा सकता है – दुहा हुआ दुग्ध अर्थात मूलाधार में स्थित बोधित्व पुनः स्तनों में अर्थात् महासुख चक्र में समा जाता है। बलद अर्थात् समवृत चित्त संसार का प्रसव करता है और नैरात्यमय हो जाने पर गाय बाँझ हो जाती है। इस दार्शनिक उक्ति से अलग इस पद में एक व्यंग्योक्ति भी है जिसका घनिष्ठ अर्थ अंततः लोकजीवन से ही जुड़ता है। इस पद में तीन–चार प्रतीक दिए गए हैं जैसे मेंढक साँप से नहीं डरता है, और शृगाल सिंह को चुनौती देता है। इस पद का मूल अर्थ कहीं न कहीं सामाजिक जीवन में वर्चस्व के खिलाफ़ ही है। सामाजिक जीवन में जो पीड़ित और शोषित मनुष्य हैं, वे तथाकथित मुख्यधारा के विरोध में खड़े होते हैं। इस उलटबाँसी में व्यवस्था के प्रतिरोध को पहचाना जा सकता है।

यह सत्य है कि सिद्धों के साहित्य में दार्शनिक अनुभूति और साधनापरक रहस्यवाद की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। योग क्रिया के जटिल विधान का कर्मकांड भी उसमें प्रचुरता से मिलता है, लेकिन उसमें मानवीय अनुभूतियों की स्वाभाविक दशाओं का वर्णन भी मिलता है। सिद्ध साहित्य के बिंब निम्न और दलित जातियों के जीवन व्यापार से जुड़े हुए हैं। सिद्धों ने प्रबंध काव्य और खंडकाव्य के स्थान पर गीति और मुक्तक काव्य में रचना की है। **चर्यापद** और **वज्रगीत** गीतिकाव्य के उदाहरण हैं तथा **दोहे** और **अर्द्धालियाँ** मुक्तक के उदाहरण हैं। दोहे में सिद्धों ने

नीति के वचन तथा दार्शनिक खंडन मंडन को प्रस्तुत किया है। सिद्धों ने भाषा में अपभ्रंश के साहित्यिक वर्चस्व के स्थान पर देशभाषा को अपनी रचना का आधार बनाया। साहित्य के हर क्षेत्र में चाहे वह भाषा हो, बिंब हो, अनुभूति हो, सिद्धों का योगदान एकदम मौलिक है। साहित्य में उन्होंने नये सौंदर्यबोध को प्रस्तावित किया है।

3.4 नाथ परंपरा

नाथ पंथ के साधकों ने अपने को योगी कहकर संबोधित किया है। योगी के विषय में एक कहावत है 'रमता जोगी बहता पानी।' मतलब यह कि इनकी दिशा क्या होगी इसका कुछ भी ठिकाना नहीं है। नाथ पंथ के साहित्य के संबंध में इसी उक्ति को प्रस्तावित किया जा सकता है। नाथ पंथी साहित्य प्रामाणिकता की दृष्टि से संदिग्ध है। नाथ पंथ का उद्‌भव किस प्रकार से हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद है। नाथ पंथ के संबंध में यहाँ इतना ही समझना चाहिए कि नाथों का सिद्धों से गहरा संबंध था। सिद्धों की जो सूची मिलती है उसमें से कई का सबंध नाथ परंपरा से भी था। नाथ परंपरा में मत्स्येंद्र नाथ के गुरु जलंधर नाथ माने जाते हैं। तिब्बत के ग्रंथों में भी सिद्ध जलंधर आदि नाथ कहे गए हैं। आचार्य शुक्ल का विचार है कि जलंधर ने ही सिद्धों से अपनी परंपरा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। जलंधर के शिष्य मछंदर या मत्स्येन्द्रनाथ थे और मछंदर के शिष्य गोरखनाथ या गोरक्षनाथ थे। गोरखनाथ संप्रदाय के विशेष प्रवर्तक थे। गोरखनाथ अपने युग के महान धर्मनेता थे। इनकी संगठन की शक्ति अपूर्व थी। गोरखनाथ के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतभेद है। राहुल सांकृत्यायन इनका समय दसवीं शताब्दी बताते हैं, आचार्य शुक्ल इन्हें 12वीं शताब्दी का मानते हैं और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इन्हें दसवीं शताब्दी का मानने के पक्षधर हैं। जिस प्रकार सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध है, उसी प्रकार नाथों की संख्या नौ बतायी जाती है। इन नौ नाथों में नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पट, जलंधर, मलयार्जुन का नाम गिनाया जाता है।

3.4.1 सिद्ध और नाथ में अंतर

सिद्ध और नाथ के बीच कई तात्विक समता और विषमता देखने को मिलती है। तांत्रिक साधना की व्यापक स्वीकृति नाथों के साहित्य में भी प्राप्त होती है, परंतु नाथों ने साधना में योग क्रिया को ही अपना आधार बनाया। नाथों का सिद्धों से विरोध वाममार्गी साधना को लेकर हुआ था। वाममार्गी साधना में लोकाचार से अलग हटकर सिद्धों ने मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन को साधना में प्रमुखता दी। सिद्धों की साधना के ये अनिवार्य अंग थे। नाथों ने लोक जीवन में शुचिता, अहिंसा और आचरण की पवित्रता जैसे श्रेष्ठ मानवीय मनोभाव को प्रधानता देना अपने पंथ का लक्ष्य रखा। इसके साथ–साथ नाथ पंथ ने शैवदर्शन और पतंजलि के हठयोग को मिलाकर अपने पंथ का वैचारिक आधार तैयार किया। सिद्धों के समान नाथ पंथ ने भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना, नाद बिंदु की साधना, षटचक्र शून्य भेदन, शून्यचक्र में कुंडलिनी का प्रवेश आदि अंतस्साधनात्मक अनुभूतियों को योग के लिए आवश्यक माना। नाथपंथ में शून्यवाद के महत्व को भी प्रतिपादित किया गया, जो संभवतः उन्होंने वज्रयान से ग्रहण किया था। सामाजिक विषमता, उदाहरण के लिए जातिप्रथा, छुआछूत, धार्मिक मतभेद, मूर्तिपूजा आदि बाह्याचारों का विरोध नाथों ने भी किया था। कुछ सामाजिक मर्यादा के मुद्दों को छोड़कर सिद्धों से नाथों की व्यापक सहमति थी।

3.4.2 नाथ पंथ की सांस्कृतिक विशेषता

सिद्धों का प्रभाव क्षेत्र उत्तरपूर्वी था। नाथों का प्रभाव समस्त देश में व्याप्त था। पश्चिमी भारत से नाथों का विशेष संबंध था। नाथ पंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि, उसका स्थानीय संस्कृति के साथ संवाद होता था। नाथपंथ ने मिश्र होती सांस्कृतिक प्रक्रिया को और अधिक

तीव्रता प्रदान की। अपने दृष्टिकोण में नाथपंथ सेक्यूलर था। इस पंथ की ओर मुसलमानों का भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलाने वाला योग हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में प्रचलित हुआ था। मुसलमान जोगी भी कलिकाल के अमर राजा भरथरी का गीत गाते फिरते थे। नाथपंथ ने हर धर्म और हर संस्कृति से संवाद स्थापित किया। यही कारण था कि धार्मिक सहिष्णुता का विकास नाथों के साहित्य में अधिक देखने को मिलता है। नाथों में बौद्धधर्म के प्रति आत्मीयता है, वह जैनधर्म से भी प्रभावित है, उसमें सनातन धर्म के प्रति भी आस्था है और उसमें मुस्लिम धर्म के प्रति भी विश्वास है। नाथपंथ खुले मन से वैचारिक बहस के लिए आमंत्रित करता है, लेकिन उसमें विवाद नहीं, संवाद है। गोरखनाथ जोगी को संबोधित करते हुए कहते हैं :

> कोई वादी कोई विवादी जोगी कौं वाद न करनां।
> अड़साठे तीरथ समंद समानैं यूं जोगी को गुरु मसि जरनो।।

3.5 नाथ साहित्य

नाथ पंथ के मुख्य रचनाकारों में गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीचंद चुणकरनाथ भरथरी आदि का नाम प्रसिद्ध है। उनमें से किसी के साहित्य की प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है। गोरखनाथ की देशभाषा में लिखी हुई रचनाओं में 'गोरख बोध', 'गोरखनाथ की सत्रह कला', 'दत्त गोरख संवाद', 'योगेश्वरी साखी', 'नरवइ बोध', 'विराट पुराण', 'गोरख सार' तथा 'गोरखनाथ बानी' उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त गोरखनाथ की कुछ पुस्तकें संस्कृत में भी मिलती हैं। अन्य नाथ कवियों की छुटपुट रचनाएँ मौखिक रूप में उपलब्ध होती हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, नाथ साहित्य की प्रामाणिकता संदिग्ध है। उसकी प्रामाणिकता के संदेह का आधार रचनाओं की भाषा है। जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग गोरखनाथ के साहित्य में मिलता है, उससे अनुमान लगाया जाता है कि उस भाषा का प्रचलन गोरखनाथ के काल में नहीं था। गोरख के समय में जो भाषा लिखने–पढ़ने के लिए प्रयुक्त होती थी, उस भाषा में प्राकृत या अपभ्रंश का थोड़ा बहुत मेल रहता था। गोरखनाथ की रचनाओं की भाषा में उस प्रवृत्ति की सूचना नहीं मिलती। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि गोरखनाथ के नाम पर जो रचनाएँ मिलती हैं उन्हें नाथ पंथ के अनुयायियों ने एकत्रित किया होगा।

नाथ साहित्य की अप्रामाणिकता का अन्य कारण यह भी है कि नाथपंथी, साहित्य रचने के उद्देश्य से लेखन नहीं कर रहे थे। वे अपनी संवेदना और अनुभव को लोगों से साझा करना चाहते थे। उसके लिए उन्होंने पुस्तक लिखने की आवश्यकता को महसूस नहीं किया और उसका परिणाम यह हुआ कि उनकी वाणी साहित्य बनकर लोगों के मुख के माध्यम से ही बहुत दिनों तक जीती रही। इस प्रक्रिया में नाथों की वाणी की भाषा बदल गई और भाव भी परिवर्तित हो गए। नाथ साहित्य का लोक–साहित्य में रूपांतरण हो गया और लोक–साहित्य हमेशा लोगों की स्मृति में ही सुरक्षित रहता है। लोक साहित्य को किसी पुस्तक में बाँधने की आवश्यकता नहीं होती। नाथों का जोगीड़ा आज भी पूर्वी भारत में प्रचलित है। वस्तुतः जोगीड़ा अनुभव सिद्ध ज्ञान की परिपक्वता को हमारे सामने उपस्थित करता है। जोगीड़ा में बाह्याचार का खंडन, जाति प्रथा पर व्यंग्य तथा धार्मिक आडम्बर की निंदा की गई है–

> गंगा के नहाये कहो को नर तरिगे मछरी न तरी जाको पानी में घर।

नाथ मनुष्य के विवेक को प्रामाणिक मानते हैं। विवेक को वे जीवन की कसौटी स्वीकार करते हैं, उसी आधार पर वे पाखंड का विरोध करते हैं।

नाथ साहित्य यायावरों द्वारा रचा गया था। यायावरी प्रवृत्ति नाथ कवियों की अद्भुत विशिष्टता है। नाथों ने देश के विविध भागों की यात्रा की थी और उस प्रदेश का अनुभव प्राप्त किया था। नाथ साहित्य में सैलानी का अनुभव नहीं है अपितु उसमें एक सांस्कृतिक यात्री का अनुभव है जो प्रदेश की भाषा, संस्कृति, रीति–रिवाज, वेशभूषा आदि का निरीक्षण करता है। नाथों ने जिस प्रदेश की यात्रा की वहाँ की संस्कृति की विशिष्टता और भाषा की विशिष्टता को आत्मीयता से स्वीकार किया। नाथ साहित्य में उत्तर भारत की सांस्कृतिक विविधता का चित्र मिलता है। उत्तर भारत के विविध प्रदेशों की यात्रा के क्रम में नाथों ने एक संपर्क भाषा को विकसित किया, जिसमें पूर्वी प्रदेश की भाषा, ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी और पंजाबी के शब्द हैं। आचार्य शुक्ल ने इस भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहा है, जो वस्तुतः संपर्क भाषा थी। व्यापक जनसंपर्क के कारण नाथ इस भाषा को निर्मित कर पाए। आचार्य शुक्ल ने लिखा है – 'उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ पंथ के उन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य–भाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक सधुक्कड़ी भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।'

नाथ साहित्य में अंतःसाधना का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। नाथों का मानना था 'जोइं–जोइं पिण्ड़े, सोइं ब्रह्मांडे' अर्थात् जो शरीर में है वही ब्रह्मांड में है। इस अनुभूति को प्रकट करने के लिए उन्होंने उलटबाँसी का प्रयोग किया है। उलटबाँसी के पीछे नाथों का यह तर्क था कि सिद्धि की अवस्था को पहुँचते ही साधक का कायाकल्प हो जाता है और वह लोक–व्यवहार को विपरीत दृष्टि से देखने लगता है।

चलि दे अबकि कोयल मोरी। धरती उलटि गगन कू दोरी।
गइयाँ वपड़ी सिंघ ने घैरे। मृतक पसू सूद्र के उचरै।

यहाँ कोयल साधक की आत्मा का प्रतीक है। धरती स्थिर है वह उलट नहीं सकती परंतु साधना में धरती जीव का प्रतीक है जो गगन की ओर दौड़ लगाती है अर्थात् परम्–ब्रह्म से मिलना चाहती है। नाथ साहित्य में साधनात्मक शब्दावली का प्रयोग ही बहुलता से मिलता है। नाथ आचरण की शुचिता पर अधिक बल देते हैं, परंतु यह आचरण सामान्य जन के लिए नहीं था, यह जोगी के लिए था –

जोगी होइ पर निंदा झखै। मद मांस अरु भांगि जो भखै।
इकोतर सैं पुरिषा नरकहिं जाई। सति सति भाषंत श्री गोरख राई।

नाथपंथ का महत्वपूर्ण योगदान भक्तिकालीन निर्गुण साहित्य को अपना अनुभव सौंपने में है। नाथपंथ ने निर्गुण पंथ के लिए एक मार्ग तैयार कर दिया था। कबीर साधना और भावना, दोनों स्तर पर नाथ पंथ के सिद्धांत को अपनाते हैं। जिस प्रकार विविध धर्मों की मिश्र अनुभूति को नाथ पंथ ने ग्रहण किया था, ज्ञानमार्गी कवियों ने उसी सिद्धांत को अपना वैचारिक आधार बनाया। आचार्य शुक्ल ने लिखा है – 'कबीर आदि संतों को नाथपंथियों से जिस प्रकार साखी और बानी शब्द मिले, उसी प्रकार साखी और बानी के लिए बहुत कुछ सामग्री और साधुक्कड़ी भाषा भी।

3.6 जैन साहित्य

जैन साहित्य की अधिकांश रचनाएँ अपभ्रंश में लिखी गई हैं, लेकिन वह हिंदी साहित्य से अलग नहीं हैं। जैन अपभ्रंश साहित्य का व्यापक प्रभाव परवर्ती हिंदी साहित्य में देखने को मिलता है। जैन साहित्य के महत्व की दूसरी बात उसकी प्रामाणिकता को लेकर है। आदिकाल में जितने भी प्रकार के साहित्य मिलते हैं उनमें लगभग सभी प्रकार के साहित्य की प्रामाणिकता पर प्रश्न

चिन्ह लगा हुआ है। जैन साहित्य इसका अपवाद है। जैन साहित्य का परिरक्षण धर्म संप्रदाय के आश्रय में हुआ था, इसलिए उस साहित्य का लिखित रूप अपरिवर्तित रूप में जैन मठों और पुस्तकालयों में सुरक्षित रहा। जैन साहित्य में आदिकाल की भाषा और सामाजिक गति का महत्वपूर्ण तथ्य छिपा हुआ है, इसलिए जैन साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। उसे मात्र धार्मिक साहित्य कहकर हिंदी साहित्य से खारिज नहीं किया जा सकता। वास्तव में, धर्म किसी साहित्य को खारिज करने का आधार नहीं हो सकता। यदि ऐसा संभव होता तो भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्ण युग नहीं कहा जाता। मिथक में मानवीय अनुभूति का संश्लिष्ट रूप छिपा होता है। हर युग के संदर्भ में मिथक के अर्थ बदलते हैं। जैन साहित्य में भी कुछ मिथकों का प्रयोग मिलता है। साहित्य में मिथक का प्रयोग कोई नई बात नहीं है। संस्कृत साहित्य में भी मिथक का प्रचुर प्रयोग मिलता है। साहित्य के संदर्भ में यह देखना होता है कि उन धार्मिक रचनाओं में मानवीय अनुभूति को विस्तार मिला है या नहीं। रचना की सृजनात्मक अनुभूति में मानवीयता है या नहीं। वस्तुतः धार्मिकता साहित्यिक संवेदना का अवरोधक नहीं है। धर्म का उपयोग यदि संकीर्ण दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए हो रहा है तो वह साहित्य निःसंदेह साहित्य नहीं है।

जैन साहित्य के धार्मिक ग्रंथों में यह तलाश करने की आवश्यकता है कि उसमें मानवीय अनुभूतियों का कितना गहरा स्पर्श है। उसमें सामाजिक बोध और मानवीय गरिमा का महत्व किस तरह से प्रस्तावित हुआ है। साहित्य के ऊपर की धार्मिक परत हटाने के बाद यदि जैन साहित्य का अवलोकन किया जाए तो उसमें जीवन का अद्‌भुत सौंदर्य देखने को मिलता है। उसमें हमारे सामाजिक जीवन की मूल्यवान मर्यादा की पहचान की जा सकती है। मानवीय मनोभाव की जटिलता को जैन रचनाकारों ने गहराई से स्पर्श किया है। जैन साहित्य में मानवीय मनोभाव को द्वंद्वात्मक रूप में परखने की चेष्टा की गई है। उदाहरण के लिए हम 'भरतेश्वर बाहुबली रास' के कुछ प्रसंगों को ले सकते हैं। इस कृति में रचनाकार ने मानवीय महत्वाकांक्षा के गलत परिणामों को दिखाया है। किसी व्यक्ति की महत्वाकांक्षा का असीमित विकास समाज के किन मानवीय मूल्यों की हत्या के द्वारा अपना मार्ग तैयार करता है, इसका बड़ा मार्मिक वर्णन 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में मिलता है।

3.7 जैन साहित्य के प्रकार

जिस प्रकार बौद्ध धर्म ने देश के पूरबी क्षेत्र में अपने मत को स्थापित करने के लिए जनभाषा को आधार बनाया उसी प्रकार जैन साधुओं ने भी देश के पश्चिम क्षेत्र में अपने मत को स्थापित करने के लिए जनभाषा को अपनाया। यह जनभाषा अपभ्रंश भाषा थी। जैन साधुओं ने इसी अपभ्रंश भाषा में अपना साहित्य रचा। जैन साहित्य में तीन प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। प्रथम प्रकार की रचनाएँ, जिन्हें **पौराणिक काव्य** कह सकते हैं, इस प्रकार के रचनाकारों में स्वयंभू, पुष्पदंत आदि के नाम गिनाए जा सकते हैं। द्वितीय प्रकार की रचनाओं में, **मुक्तक रचनाओं** को रखा जा सकता है जिसमें रास, फाग, चर्चरी आदि काव्यों का विवेचन किया जा सकता है तथा तृतीय प्रकार की रचनाओं में, हेमचन्द्र और मेरुतुंग की रचनाओं को लिया जा सकता है।

3.7.1 पौराणिक तथा चरित काव्य

पौराणिक विषयों को लेकर जैन कवियों ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में विपुल साहित्य की रचना की। इस साहित्य में जीवन के मर्म के साथ उपदेश और धर्म का अद्‌भुत संयोग देखने को मिलता है। जैन अपभ्रंश काव्य की समस्त प्रबंधात्मक कृतियाँ पद्यबद्ध हैं, जिसके चरित नायक या तो पौराणिक हैं या जैन धर्म के निष्ठापूर्ण अनुयायी। मध्यकाल में धर्म प्रसार के लिए ब्राह्मणों और जैनों द्वारा पुराण साहित्य की रचना हुई थी। पुराण साहित्य की सबसे बड़ी खामी यह थी कि उसमें मानवीय दशाओं का स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता है। काव्य में जीवन की मार्मिक

अनुभूतियों और दशाओं का वर्णन भी कई स्थल पर होता है, परंतु काव्य में काव्यत्व दर्शनिक उद्देश्य के साधन रूप में ही प्रस्तुत होता है। मनुष्य के सुख–दुख, राग–विराग, सफलता–असफलता को उद्देश्य विशेष के अधीन होना पड़ता है। इस प्रक्रिया में काव्य की आंतरिक प्रखरता गायब हो जाती है, उसके स्थान पर दार्शनिक मतवाद का आग्रह प्रबल हो जाता है। इस प्रकार के आग्रह के बावजूद कुछ पौराणिक काव्यों को श्रेष्ठ साहित्यिक रचना स्वीकार कर सकते हैं। स्वयंभू और पुष्पदंत पौराणिक काव्य के विशिष्ट कवि हैं।

स्वयंभू रचित पउमचरिउ उच्च कोटि का काव्य है। इस काव्य की 83 संधियों को स्वयंभू ने लिखा था, बाद में उसमें सात संधियों को उनके पुत्र त्रिभुवन ने जोड़कर काव्य को पूरा किया। अन्य जैन काव्यों की तरह इस काव्य के प्रारंभ में ब्राह्मण मत की आलोचना की गई है। ब्राह्मण मत की आलोचना किसी धार्मिक आग्रह का परिणाम न होकर सामाजिक आग्रह का परिणाम मालूम होती है। जैन भी उसी सामाजिक वर्चस्व के खिलाफ संघर्ष कर रहे थे जिसके खिलाफ सिद्ध और नाथ लड़ रहे थे। 'पउम चरिउ' में राम और सीता के जीवन की कहानी है।.इस काव्य में कवि ने राम को साधारण मनुष्य के समान ही वर्णित किया है जिसमें उल्लास और अवसाद के भाव हैं। सीता के चरित्र में करुणा है परंतु वह अंत में वैराग्य मार्ग को ग्रहण करती है ताकि दूसरे जन्म में स्त्री होकर जन्म नहीं लेना पड़े। स्त्री–करुणा को रचकर कवि ने सामंती समाज के यथार्थ चित्र को उद्घाटित कर दिया है। मेघनाद और हनुमान के युद्ध का वर्णन करता हुआ कवि यह बताना नहीं भूला है कि ये दोनों 'जिन' के भक्त थे। काव्य में धार्मिक रंग भी चढ़ा दिया गया है, परंतु उसके बीच जीवन की स्वाभाविकता का प्रसार भी कम नहीं है।

'महापुराण' पुष्पदंत द्वारा रचित एक महाकाव्य है। 'महापुराण' का मतलब प्राचीनकाल की महत्ती कथा से है। महापुराण में जैन धर्म के 63 महापुरुषों (श्लाका पुरूषों) का वर्णन है। महापुराण की कथावस्तु का फलक अत्यधिक विराट है। 'महापुराण' की विशिष्टता उसके धार्मिक होने में नहीं है। उसकी महत्ता मानव जीवन की अभिव्यंजना में है। पर्यावरण के प्रति कवि में आत्मीयता है। 'नागकुमार चरित' या 'णायकुमार चरिउ' पुष्पदंत की दूसरी रचना है। इस काव्य कृति में नागकुमार के अनेक विवाहों के वर्णन, व्रत करने के प्रसंग और अंत में तपस्या द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की कथा है। नख–शिख वर्णन, संयोग–श्रृंगारादि के अनेक प्रसंग कृति में मिलते हैं, परंतु अंत में. वैराग्यपूर्ण वातावरण इन लौकिक प्रसंगों को ढक लेता है। 'नागकुमार चरित' में कवित्व के प्राचुर्य की अपेक्षा घटना का प्राचुर्य है। 'जसहर चरिउ' में पुष्पदंत हिंसा की निंदा करते हैं। जसहर की माँ ने पुत्र की मंगलकामना के लिए आटे के कुक्कट की बलि दी, इस हिंसा की प्रवृत्ति के कारण उन्हें अनेक जन्मों में भटकना पड़ा।

जैन काव्य में कहीं–कहीं धर्म ने लौकिक अनुभूति को आच्छादित कर लिया है। लौकिक अनुभूति और धार्मिक अनुभूति के बीच द्वंद्वात्मक भाव पैदा हो गया है। विचारधारा की प्रबलता के कारण अंत में मोक्ष, वैराग्य आदि का पक्ष रखा गया है, परंतु जीवन की जटिलता से पैदा होने वाली कठिनाइयों से कवि ने मुँह नहीं मोड़ा है। कवि धनपाल की कृति 'भविसयत्त कहा' जैन चरित काव्य की एक महत्वपूर्ण रचना है। इस काव्य में लौकिक अनुभूति और धार्मिक अनुभूति के बीच तीव्र द्वंद्व देखने को मिलता है। सामंती समाज में बहुपत्नी की प्रथा थी। बहुपत्नी की प्रथा के कारण गार्हस्थ्य जीवन में विषमता पैदा होती थी। 'भविसयत्त कहा' में कहानी कुछ इसी से संबंधित है। धनपाल की दो स्त्रियाँ थीं – कमलश्री और सरूपा। कमलश्री का पुत्र भविसयत्त था और सरूपा का पुत्र बंधुदत्त था। दोनों सौतेले भाइयों की आपसी प्रतिद्वंद्विता और प्रतिशोध को कवि ने मानवीय तरीके से रचा है और अंत में कमलश्री और उसके पुत्र भविसयत्त की विजय को दिखाया है। भविसयत्त की विजय इसलिए होती है क्योंकि वह धर्मपरायण था।

3.7.2 मुक्तक काव्य

जैन साहित्य में चरित काव्य के अतिरिक्त मुक्तक काव्य की रचनाएँ भी हुई हैं। मुक्तक साहित्य में प्रधान रूप से दो प्रकार की भावधारा मिलती है। प्रथम प्रकार की वे रचनाएँ हैं, जो साधकों

का लक्ष्य में रखकर लिखी गई हैं। यह काव्य परमसमाधि तथा रहस्यात्मक अनुभूतियों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। दूसरे प्रकार की काव्य रचना का संबंध जैन काव्य के आचरण शास्त्र से है। इस प्रकार की काव्य रचना का उद्देश्य श्रावकों को तीर्थ, व्रत, उपवास आदि का उपदेश देना है। इस प्रकार की रचनाओं में रास, फाग, चर्चरी आदि को रख सकते हैं।

रहस्यात्मक साहित्य

रहस्यानुभूति का प्रभाव जैन साहित्य में भी देखने को मिलता है। जैन धर्म में रहस्यवादी काव्य की संख्या अल्पमात्रा में ही उपलब्ध होती है। जोइन्दु का 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' तथा मुनिरामसिंह का 'पाहुड़ दोहा' जैन साहित्य की उल्लेखनीय रहस्यवादी काव्यकृतियाँ है। 'परमात्मप्रकाश' में परमात्मा को नित्य निरंजन स्वरूप माना गया है। जोइन्दु के अनुसार वह परमात्मा योग, वेद और शास्त्रों से नहीं जाना जा सकता है। निर्मल ध्यान द्वारा उसकी अनुभूति की जा सकती है। ब्रह्म, मन इन्द्रयादि के व्यापारों से भिन्न होते हुए भी शरीर में निवास करता है और पूरे विश्व में व्याप्त है। जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों को जोइन्दु ने काव्यात्मक साँचे में ढालने का प्रयास किया है। जैन दर्शन में कहा गया है कि आत्मज्ञान से मिथ्या दृष्टि दूर हो जाती है और परम पद की प्राप्ति होती है। समान विकल्पों का विलय होना परम समाधि है और परम समाधि की प्राप्ति से समस्त संसार के अशुभ कर्मो का क्षय हो जाता है। 'पाहुड़ दोहा' में मुनिरामसिंह ने मूर्ति पूजा का खंडन किया है। 'पाहुड़ दोहा' में योगपरक शब्दावली का प्रयोग मिलता है। योग के साधनापरक विधान की ओर भी कवि ने संकेत किया है। स्त्रीपरक रूपकों के सहारे मोक्षादि का वर्णन 'पाहुड़ दोहा' की उल्लेखनीय विशेषता है। जैन रहस्यवादी काव्य में रचनाकारों ने आत्मानुभव को प्रमुख माना। आत्मानुभव ही शरीर का परम प्राप्तव्य है।

जैन रास साहित्य

परवर्ती जैन साहित्य में रास ग्रंथों की प्रचुरता दिखाई पड़ती है। वस्तुतः रास नृत्य गीत और अभिनय के सम्पृक्त मनोभाव को सूचित करता है। ताल देकर काव्य का गायन किया जाता था, इसलिए इसमें नृत्य, संगीत और अभिनय का स्वाभाविक रूप से जुड़ाव हो गया। रूप गठन की दृष्टि से प्रबंध और मुक्तक दोनों में रास काव्य लिखे गए हैं। प्रमुख रास ग्रंथों में 'भरतेश्वर बाहुबली रास' (1184 ई.), 'चंदनबाला रास' तथा 'उपदेश रसायन रास' नाम गिनाया जा सकता है। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' शालिभद्र सूरि की रचना है। इसे हम कथा काव्य कह सकते हैं जिसमें कथा और गायन का विशिष्ट सम्मिश्रण है। 'भरतेश्वर बाहुबली रास' में रचनाकार ने हिंसा का विरोध किया है। कवि ने यह संकेत करने का प्रयास किया है कि सामंती समाज में युद्ध की विभीषिका कितनी भयानक होती थी। 'चंदनबाला रास' में कवि असुग ने नारी जीवन की करुणा को बड़ी सहृदयता से रचा है। इस काव्य से पता चलता है कि सामंती सामज में नारी की स्थिति कितनी दयनीय होती थी। उस समाज में नारी का सम्पत्ति की तरह अपहरण होता था। इस कृति में चंदनबाला का अपहरण होता है और उसे एक सेठ के यहाँ बेच दिया जाता है। तमाम कष्टों और दुखों के बाद भी चंदनबाला अपने नारीत्व की रक्षा करती है।

रास काव्य में दूसरे प्रकार की रचना उपदेश साहित्य का अंग है। इस प्रकार के रास साहित्य में सामाजिक व्यवस्था को सामने रखकर गृहस्थ को अपने धर्म का पालन करने का उपदेश दिया जाता था। जिन पूजा, अहिंसा व्रत पालन, कीर्तन में मन लगाने तथा काम–क्रोधादि मनोविकार से बचने की सलाह देना इन उपदेश ग्रंथों का प्रमुख उद्देश्य है। जिनदत्तसूरि का 'उपदेश रसायन रास' इसी प्रकार की कृति है। 'उपदेश रसायन रास' का काव्य–रूप चर्चरी कहा गया है। चर्चरी की भी वही विशेषता होती है जो रास ग्रंथ की विशेषता है। चर्चरी की रचना भी मंदिर में गाने के लिए होती थी। जैन साहित्य के मुक्तक काव्य में फागु की रचना भी मिलती है। फागु का संबंध फाल्गुन से है। वसंत के आगमन पर प्रकृति में नवजीवन का संचार होने लगता है। मानव हृदय में प्रेम और श्रृंगार की भावनाएँ प्रस्फुटित होने लगती हैं। वास्तव में फागु लोकगीत है। जैनाचार्यो ने प्रेम और मस्ती भरे काव्य में भी धार्मिकता का रंग भर दिया है। राजशेखर कृत 'नेमिनाथफागु'

फागु काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण है। 'नेमिनाथफागु' की कथा इस प्रकार है कि नेमिनाथ का विवाह राजमती से निश्चित हुआ। बारात के भोजन के लिए पशुवध हो रहा था। नेमिनाथ पशुओं के प्रति दयार्द्र होकर वधु गृह के तोरण द्वार से लौट गए और गिरनार पर्वत पर जाकर तपस्या करने लगे। इस कृति में राजमती के नख–शिख का भी अपूर्व वर्णन मिलता है। जैन रचनाकारों ने अपनी संगीतात्मक अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए रास, चर्चरी और फागु जैसे काव्य–रूपों को अपनाया। कवियों ने अपनी लयात्मक संवेदना के अनुसार छंदों का नियोजन किया। छंद के शब्दों की ध्वनि में तुकांत का प्रयोग किया गया और संगीतात्मक अनुभूति को उत्पन्न करने की चेष्टा की गई। इन काव्यों की रचना दोहा–चौपाई छंद में की गयी है जिसमें कथा के साथ गायन की विशिष्ट क्षमता होती है।

3.7.3 जैन रचनाकारों के व्याकरणिक ग्रंथ और साहित्य

जैन रचनाकारों ने अपभ्रंश में व्याकरण ग्रंथ का भी निर्माण किया था। आचार्य हेमचन्द्र का 'सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन' अपभ्रंश व्याकरण का ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना 1143 ई. के आसपास हुई थी। इस ग्रंथ में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश – तीनों भाषाओं का समावेश मिलता है। इस व्याकरण ग्रंथ में हेमचन्द्र ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के एकाध उदाहरण ही प्रस्तुत किए हैं परंतु अपभ्रंश के उदाहरण में उन्होंने संपूर्ण गाथा एवं छंद दे दिए हैं। अपभ्रंश के एक उदाहरण को यहाँ उद्धृत कर सकते हैं–

भल्ल हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु लयंसिअहु जई भग्गा घरु एंतु।।

अर्थात् भला हुआ जो मारा गया हे बहिन! हमारा कंत। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।

हेमचन्द्र के व्याकरण से इस बात का पता चलता है कि तब तक अपभ्रंश भाषा, साहित्य की भाषा हो चुकी थी परंतु अपभ्रंश के परिनिष्ठित रूप से अलग, देशभाषा और अपभ्रंश के योग से एक नई भाषा विकसित हो रही थी। इसी भाषा का विकास आगे चलकर हिंदी के रूप में हुआ। हेमचन्द्र दो प्रकार की अपभ्रंश भाषा की सूचना देते हैं – प्रथम प्रकार नागर अपभ्रंश है और दूसरे प्रकार की भाषा ग्राम्य अपभ्रंश है। ग्राम्य अपभ्रंश और देशभाषा के स्वाभाविक मिश्रण से एक नये प्रकार की भाषा का प्रारंभ होता है, जो अपभ्रंश की साहित्यिकता और शास्त्रीयता से अलग हटी हुई थी, उसका पता हमें हेमचन्द्र के शब्दानुशासन से ही चलता है।

आचार्य मेरुतुंग की 'रचना प्रबंधचिंतामणि' (1305 ई.) संस्कृत ग्रंथ 'भोज प्रबंध' के ढंग पर लिखी गई थी। इसमें बहुत से प्राचीन राजाओं के आख्यान संगृहीत किए गए थे। इसमें से कुछ रचनाएँ धाराधिपति मुंज की कही जाती हैं। इस ग्रंथ में अपभ्रंश के जो नमूने प्रस्तुत किए गए हैं वे अधिकतर उद्धृत किए गए हैं, मौलिक रूप से लिखे हुए नहीं हैं। यह ग्रंथ अपभ्रंश भाषा के विषय में प्रकाश डालने में सहायक हो सकता है। इस ग्रंथ की प्रासंगिकता भी यहीं तक समझी जानी चाहिए।

3.8 सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य का परवर्ती हिंदी के विकास में योगदान

हिंदी की प्रारंभिक संवेदना का विकास सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य की विद्रोही चेतना से ही माना जा सकता है। इस धारा से सम्बद्ध रचनाकार एक खास वर्ग के सामाजिक वर्चस्व के खिलाफ खड़े हुए थे। उनकी इसी चेतना के कारण उनके साहित्य की संवेदना और अभिव्यंजना का तेवर बदला हुआ मालूम पड़ता है। भक्तिकाल के दो बड़े कवियों के माध्यम से परवर्ती हिंदी

में सिद्ध, नाथ और जैन साहित्य का प्रभाव तुलनात्मक रूप में देखा जा सकता है। कबीर की परंपरा विद्रोह की परंपरा थी। उन्होंने सिद्धों और नाथों से केवल दर्शन ही ग्रहण नहीं किया था, बीजक, साखी, शब्द और रमैनी के लिए भी वे उनके ऋणी हैं। तुलसीदास ने जिस कड़बक शैली में रामचरितमानस को रचा वह जैन अपभ्रंश साहित्य का अपना आविष्कार था। सूरदास, राग के आधार पर छंद को रचते हैं, इसकी शुरुआत सिद्धों की रचनाओं में देखी जा सकती है। जिस छंद और लय को सिद्धों–नाथों और जैनों ने संघर्ष से प्राप्त किया था, वह हिंदी भाषा में सहज ही उपलब्ध हो सकी। हर युग का अपना छंद और अपना लय–विधान होता है। उसे समकालीन जीवन और समाज रचता है। सिद्ध, नाथ और जैन रचनाकारों ने अपने अनुभव को हिंदी के लिए संभव बनाया – इसमें शक नहीं। दोहा छंद की खोज हो अथवा चरित काव्य की परंपरा का विकास, सिद्ध–नाथ और जैन की साहित्यिक परंपरा से अलग हटकर हम हिंदी के विकास की कल्पना नहीं कर सकते हैं।

3.9 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप हिंदी साहित्य के आरंभिक काल से परिचित हो गए होंगे। इस बात को भी आप समझ गए होंगे कि हिंदी भाषा का आरंभ सामाजिक विद्रोह की परंपरा से हुआ था। सिद्धों की नवीन अनुभूति ने नवीन काव्य–भाषा की रचना की। अनुभूति बदलने से किस प्रकार भाषा के तेवर बदल जाते हैं, इसे भी आप अच्छी तरह से समझ गए होंगे। नाथों की मिश्रित अनुभूति ने मिश्र भाषा और मिश्र संस्कृति को प्रस्तावित किया। नाथ और सिद्ध के बीच के सूक्ष्म दार्शनिक अंतर को भी आप जान चुके हैं। नाथ साहित्य की विविधता और उसकी यायावरी संवेदना से भी आपका साक्षात्कार हुआ होगा। जैन साहित्य की धार्मिक और मानवीय पक्षों का भी आपने अध्ययन किया। जैन साहित्य के विविध प्रकारों से भी आप परिचित हो गए होंगे। सिद्ध–नाथ और जैन साहित्य के प्रासांगिक तत्वों के विकास ने किस प्रकार से परवर्ती हिंदी साहित्य को प्रभावित किया, इस बात का संकेत भी हमने इकाई में किया है।

3.10 अभ्यास प्रश्न

1 सिद्ध साहित्य की चर्चा करते हुए उसके अभिव्यंजना पक्ष पर प्रकाश डालिए।

2 सिद्ध और नाथ में अंतर स्पष्ट करते हुए नाथ साहित्य की चर्चा कीजिए।

3 जैन साहित्य के विविध प्रकारों का विवेचन कीजिए।

इकाई 4 रासो काव्य एवं लौकिक साहित्य

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

आदिकालीन साहित्य के अंतर्गत इस इकाई में आप रासो काव्य एवं लौकिक साहित्य का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- रासो काव्य रचना की प्रेरक ऐतिहासिक परिस्थिति को जान सकेंगे और रासो काव्य के रचना विधान का विवेचन कर सकेंगे;
- रासो की वीरगाथात्मक प्रवृत्ति को समझ सकेंगे;
- लौकिक साहित्य के अंतर्गत मिथिला से लेकर राजस्थान तक के अंचल में मिलने वाले लोक साहित्य पर टिप्पणी कर सकेंगे; और
- लोक साहित्य में संवेदना की विविधता का विवेचन स्थानीय संस्कृति के संदर्भ में कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

इकाई 3 में आप सिद्ध नाथ और जैन साहित्य के संबंध में जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि सिद्ध, नाथ और जैन रचनाकारों की रचनात्मक संवेदना में हिंदी भाषा के प्रारंभिक रूप का प्रादुर्भाव हो चुका था, तथापि हिंदी साहित्य का क्रमबद्ध विकास रासो साहित्य के आविर्भाव से ही माना जाता है। सिद्ध, नाथ और जैन रचनाकारों की मूल भाषा अपभ्रंश ही थी

परंतु उन्होंने अपभ्रंश भाषा के साथ–साथ अपनी रचनाओं में देशभाषा का भी प्रयोग किया। दसवीं शताब्दी के बाद अपभ्रंश भाषा के साथ–साथ लोकभाषा का प्रयोग खुलकर होने लगा था। राजस्थान से मिथिला तक के राजदरबारों में देशी भाषाओं के साथ अपभ्रंश भाषा को मिलाकर काव्य रचने की पद्धति प्रचलित हो चली थी। इस प्रकार, आदिकाल में दो प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रारंभ होता है। प्रथम प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्ति को साहित्य के इतिहास में रासो काव्य के नाम से जाना जाता है और दूसरे प्रकार की साहित्यिक प्रवृत्ति को लौकिक साहित्य की संज्ञा दी गई है। रासो साहित्य और लौकिक साहित्य की रचना एक विशेष प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के बीच हुई थी। सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था ने किस प्रकार से साहित्य को प्रभावित किया, इन मुद्दों पर भी इस इकाई में चर्चा की जाएगी।

4.2 रासो साहित्य की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता

रासो साहित्य की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता पर विचार करने से पूर्व रासो ग्रंथों पर विचार करना उचित प्रतीत होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निम्नलिखित रासो ग्रंथों की चर्चा की है – 'विजयपाल रासो', 'हम्मीर रासो', 'खुम्माण रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', तथा 'परमाल रासो'। इन्हीं काव्य–ग्रंथों की चर्चा सामान्यतया रासो साहित्य के अंतर्गत की जाती है। 'विजयपाल रासो' के रचयिता नल्लसिंह भाट थे। इस काव्य में राजा पंग और विजयपाल के बीच युद्ध का वर्णन है। मिश्र बंधुओं ने इस काव्य–कृति का रचनाकाल चौदहवीं शती माना है। काव्य–कृति की भाषा–शैली पर विचार करने पर यह रचना परवर्ती जान पड़ती है। यह रचना प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं है। 'हम्मीर रासो' शार्ङ्धर कवि की कृति बताई जाती है, परंतु इस ग्रंथ की सूचना मात्र ही उपलब्ध है। प्राकृतपैंगलम में कुछ छंदों के आधार पर आचार्य शुक्ल ने इस कृति के अस्तित्व को स्वीकारा है। 'हम्मीर रासो' की कोई भी प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। 'खुम्माण रासो' की एक अपूर्ण प्रति प्राप्त हुई है, उसमें खुम्माण से लेकर महाराणा प्रताप सिंह तक का वर्णन मिलता है। 'खुम्माण रासो' मूल रूप में नवीं–दसवीं शताब्दी की रचना है, परंतु जो काव्य–प्रति प्राप्त हुई है, वह सत्रहवीं शताब्दी की रचना मालूम पड़ती है। 'बीसलदेव रासो' के रचयिता नरपति नाल्ह थे। 'बीसलदेव रासो' यद्यपि माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो चुकी है परंतु इस ग्रंथ के रचनाकार के विषय में मतभेद बना हुआ है। कुछ लोग इस कृति का रचनाकाल तेरहवीं शताब्दी मानते हैं और कुछ लोग सोलहवीं शताब्दी मानते हैं।

चंदबरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में विवाद है। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई है – पृथ्वीराज रासो के विभिन्न संस्करणों के बीच से उसके प्रामाणिक और मूल पाठ को तय करना। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने बृहत्तम, बृहत्, लघु और लघुतम पाठों में से लघुतम पाठ को पृथ्वीराज रासो का मूल रूप बताया है। आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने अनुमान लगाया है कि कवि चंद ने रासो की रचना शुक–शुकी के संवाद के रूप में की होगी। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में तीन वर्ग बन गए हैं। विद्वानों का प्रथम वर्ग इस काव्य–कृति को अप्रामाणिक मानता है। इस वर्ग के विद्वानों में डॉ. बूलर, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कविराज श्यामलदीन तथा हीराचंद ओझा के नाम प्रमुख हैं। डॉ. श्यामसुंदर दास, मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या, मिश्रबंधु, कर्नल टॉड आदि विद्वानों ने नागरी प्रचारिणी सभा वाले पृथ्वीराज रासो के संस्करण को प्रामाणिक माना है। विद्वानों का तृतीय वर्ग पृथ्वीराज रासो को अर्ध–प्रामाणिक रचना मानता है। इस वर्ग के विद्वानों में प्रमुख नाम मुनि जिनविजय, डॉ. सुनीति चाटुर्ज्या, आ. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. नामवर सिंह का है। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की बहस हिंदी साहित्य में बहुत पुरानी है, चूँकि इस रचना को आधार मानकर आदिकाल का विश्लेषण किया जाता है। इसलिए इस ग्रंथ को कम से कम अर्ध प्रमाणिक मानना ही उचित प्रतीत होता है। साहित्य में प्रारंभिक रचनाओं के संदर्भ में इस तरह के प्रश्न साहित्य के इतिहास में पैदा होते रहते हैं, इसका श्रेष्ठ उदाहरण

ग्रीक साहित्य में रचा गया काव्य 'इलियड' और 'ओडिसी' है। होमर रचित इस कृति के लिए पश्चिमी साहित्य में एक मुहावरा चल पड़ा होमरिक प्रॉब्लम (कभी न सुलझने वाली गुत्थी)। साहित्य के इतिहास में काव्य–कृति की प्रामाणिकता को लेकर चलने वाले विवाद के साथ–साथ उस काव्य–कृति के आलोचनात्मक विश्लेषण का भी महत्व है। यह आलोचनात्मक विश्लेषण ही हमारी इतिहास दृष्टि को तय करता है।

4.3 रासो काव्य की पृष्ठभूमि

रासो काव्य से हमारा तात्पर्य आदिकालीन साहित्य की वीरगाथात्मक कृतियों से है। आदिकालीन साहित्य में रास ग्रंथ और रासो ग्रंथ दोनों प्रकार की रचनाओं की चर्चा मिलती है। रास साहित्य और रासो साहित्य का मुख्य अंतर भावानुभूति को लेकर है। रास साहित्य की संवेदना धार्मिक अनुभूति अथवा लौकिक प्रेम की अनुभूति से जुड़ी हुई है। रास काव्य का प्रसार जैन साहित्य में देखने को मिलता है। रास साहित्य में लौकिक प्रेमानुभूति को भी अभिव्यक्त किया गया है। 'संदेश रासक' इसी तरह के साहित्य का उदाहरण है। आदिकालीन साहित्य में रास काव्य का नाम जैन रचनाकारों द्वारा लिखे गए रासक ग्रंथों और 'संदेश रासक' जैसे प्रेमानुभूति प्रधान काव्य संवेदना के लिए रूढ़ हो गया है। वस्तुतः रास, रासो, रासउ और रसायण शब्द अलग–अलग हैं और वे एक खास तरह के मनोभाव को अभिव्यक्त करते हैं।

अब हम रासो साहित्य को समझने की कोशिश करेंगे। वस्तुतः रासो साहित्य की रचना चारणों द्वारा हुई थी। चारणों का साहित्य में आगमन सामंतवादी व्यवस्था के समानांतर होता है। सामंतों को प्रशस्तिगान के लिए चारणों की आवश्यकता हुई। प्रशस्तिगान में चारण अधिकतर आश्रयदाता सामंतों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करते थे। प्रशस्तिगान की विषय–वस्तु बहुत ही सीमित थी। सामंतों के जीवन में दो बातों की प्रधानता थी युद्ध और प्रेम। इसलिए चारणों के साहित्य में भी इन्हीं दो विषयों की प्रमुखता मिलती है। किसी राजा की रूपवती कन्या का संवाद पाकर किसी दूसरे राजा का चढ़ाई करना तथा उस कन्या का हरण कर लेना, वीरों के लिए गौरव और अभिमान का विषय था। पृथ्वीराज रासो और बीसलदेव रासो में इस प्रकार के कई प्रसंग आए हैं। राजनीतिक कारणों से हुए युद्धों के स्थान पर भी चारणों ने काव्य में रूपवती स्त्री को ही युद्ध का कारण परिकल्पित किया है। पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन गौरी के बीच युद्ध का कारण एक रूपवती स्त्री को बताया गया है। रासो साहित्य के संदर्भ में इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि यह साहित्य युद्ध और श्रृंगार तक ही क्यों सीमित है ? इस प्रश्न का सीधा–सा जवाब है कि साहित्य बहुत कुछ सामाजिक संरचना पर निर्भर करता है। सामाजिक संस्था की बनावट का असर साहित्य पर भी दृष्टिगोचर होता है। सामंती व्यवस्था में चारण कवियों ने जीवन के उन पक्षों को अनदेखा किया जिसका संबंध जीवन के अभावों से है, इसीलिए व्यवस्था से शोषित सामान्य मानव के घरेलू जीवन और उसकी समस्याओं की ओर उनका ध्यान नहीं है। इन विषयों से सामंतों का मनोरंजन भी नहीं हो सकता था। अतः कवियों ने साहित्य में सामान्य मनुष्य की ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। आदिकालीन रासो साहित्य में साहित्य का उद्देश्य सामंतों का मनोरंजन था, इसलिए रासो साहित्य में युद्ध और श्रृंगार को प्रमुख विषय बनाया गया । इस श्रृंगार में भी उत्तेजना है, इसमें प्रेम से अधिक काम का वर्णन है। प्रकृति वर्णन को भी काव्य में काम की उत्तेजना को बढ़ाने का साधन माना गया है।

4.4 रासो साहित्य में विचारणीय बिंदु

रासो साहित्य का अध्ययन करते समय हमें कुछ बिंदुओं को ध्यान में रखना अनिवार्य होगा। रासो साहित्य को हम वीरगाथात्मक साहित्य कहते हैं। इस साहित्य में वीरता का जो वर्णन मिलता है उसका स्वरूप क्या है ? वीरगाथा का मूल स्वर किस प्रकार का है ? इन रचनाओं

नहीं है। यह प्रेम रूप–वर्णन और वयःसंधि प्रकरण तक सीमित है। इंछिनी के सौंदर्य वर्णन में रासोकार लिखते हैं–

> नयन सुकज्जल रेष तषि निष्छल छवि कारिय।
> श्रवनन सहज कटाछ चित कर्षन नर नारिय।
> भुज मृनाल कर कमल उरज अबुज कल्लिय फल।
> जंघ रंभ कटि सिंहगमन दुति हंस करी छल।

ऋतु–वर्णन भी प्रेम–संबंधी कथानक रूढ़ियों का एक हिस्सा है। 'पृथ्वीराज रासो' में संयोगकालीन उद्दीपक ऋतु वर्णन की पुरानी प्रथा को अपनाया गया है। पृथ्वीराज युद्ध से पहले हर रानी से विदा लेने जाते हैं और वे उस ऋतु में ऋतु का मनोरम वर्णन सुनकर वहीं रुक जाते हैं। वसंत ऋतु में इंछिनी के पास जाते हैं पर उन्हें नायिका से बाहर निकलने की अनुमति नहीं मिलती है। वसंत के बाह्य वातावरण का चित्र उपस्थित करती हुई रानी पृथ्वीराज से कहती है जब आम बौरा गए हों, कदम्ब फूल चुके हो, रात की दीर्घता में कोई कमी न आई हो, भँवरे भावमत्त होकर झूम रहे हों, मकरंद की झड़ी लगी हुई हो, मंद मंद पवन विरहाग्नि को सुलगाने में लगी हो, और कोकिल कूक रही हो – ऐसे में कोई अपने प्रिय को बाहर जाने की अनुमति कैसे दे सकती है–

> मवरी अंब फुल्लिंग कदंब रयनी दिघ दीसं।
> भँवर भाव भल्लै भ्रमंत भ्रमंत मकरंद बरीसं।।
> बहत वात उज्जलित भौर अति विरह अगिनि किय।
> कुहकुहंत कलकंठ पत्रराषस अति अग्गिय।।

काव्य में वातावरण के चित्र के द्वारा संयोग की अनुभूति की व्यंजना की गई है परंतु जितने भी उपमानों का प्रयोग किया गया है वे बड़े ही रूढ़ हैं। कवि उसमें किसी भी तरह की मौलिकता का परिचय नहीं देता। वसंत ऋतु के बाद ग्रीष्म का वर्णन मिलता है। ग्रीष्म ऋतु में पृथ्वीराज पुण्डीरनी के यहाँ ठहर गए। पुण्डीरनी ने भी ग्रीष्म का उसी प्रकार का चित्र उपस्थित किया। वह पति से अनुरोध करती है कि जब राह चलना कठिन हो रहा हो, दिन–रात गर्मी की ज्वाला से काया क्लेशपत्र हो उठी हो – इस प्रकार के समय में प्रिय को कभी बाहर नहीं जाना चाहिए –

> त्रिय लहै तत्त अषर कहै गुनियन ग्रब्ब न मंडियै।
> सुनि कंत सुमति संपति, विपति ग्रीषम ग्रेह न छंडियै।।

पृथ्वीराज वर्षाकाल में इंद्रावती से विदा लेने गए। उसने भी वर्षा ऋतु की पृष्ठभूमि में प्रिय से मिलन की आकांक्षा अभिव्यक्त की। वर्षा ऋतु में प्रकृति का चित्र मादक हो उठता है। ऐसे मद–भरे वातावरण में कोई भी रमणी अपने प्रिय को कैसे विदा कर सकती है –

> घन गरजै घर हरै पलक निस रैनि निघट्टै।
> सजल सरोवर पिषि हियौ ततछन घन फट्टै।
> जल बद्दल बरषंत पेय पल्ल्हौ निरंतर।
> कोकिल सुर उच्चरै अंग पहरंत पंचसर।

'पृथ्वीराज रासो' तथा अन्य रासो ग्रंथों में ऋतु वर्णन की रूढ़ि का पालन किया गया है। 'संदेश रासक' में कवि को ऋतु वर्णन का एक सुंदर बहाना मिल गया है। इस काव्य में पथिक को विरहिणी का संदेशवाहक बनाया गया है। पथिक विरहिणी की दशा देखकर रुक जाता

है। अंत में पथिक विरहिणी से पूछता है कब से तुम्हारा यह हाल है ? उसके बाद एक–एक करके ऋतु वर्णन चलने लगता है। 'पृथ्वीराज रासो' और 'संदेश रासक' के ऋतु वर्णन में अंतर है। 'संदेश रासक' में विरहिणी नायिका जन–सामान्य की भावभूमि पर दिखाई पड़ती है। उसमें राजसी ठाठ नहीं है, उसके दुख में अनुभूति की सच्चाई है। कवि ने कुछ ताजे बिंबों का प्रयोग कर विरह को तीव्र बनाने का प्रयास किया है। 'पृथ्वीराज रासो' में ऋतु वर्णन का प्रयोग काव्य में परंपरा–पालन के लिए किया गया है। ऋतु वर्णन में एक बात स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आती है कि नारी का जीवन पुरुषों पर आश्रित था और पति के बिना उनका जीवन अस्तित्वहीन मालूम पड़ता है। नारी में एक प्रकार की असुरक्षा का भाव मिलता है, उसे हमेशा यह डर लगा रहता है कि पुरुष अपनी स्वेच्छाचारिता के कारण कहीं उसका त्याग न कर दे, इसलिए वे पुरुष को अपने पास से अलग नहीं करना चाहती हैं। नारी कभी ऋतु का भ्रम उत्पन्न करके और कभी अपने यौवन की उन्मादकता के द्वारा पुरुष को अपने पास रखने का प्रयत्न करती है।

4.6 रासो साहित्य में कथात्मक संरचना

रासो काव्य का ढाँचा मुख्य रूप से प्रबंधात्मक है। इस दौर में मुक्तक रचनाएँ भी हुईं, परंतु वे मुख्यधारा का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। कथानक के धारावाहिक विकास के कारण काव्य में प्रबंधत्व का विकास विशेष रूप से हुआ है। कथानक का कभी–कभी कई युगों तक विकास होता रहता था। यही कारण है कि आदिकाल की प्रबंध कृतियों का किसी एक कवि की रचना होने पर भी संदेह अभिव्यक्त किया जाता है। 'पृथ्वीराज रासो' के विषय में यह प्रचलित है कि कवि चन्द अपने पुत्र जल्हण के हाथों में काव्य–कृति को पूरा करने का भार सौंपकर गजनी चला गया था :

> पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज[1]

इस प्रकार आदिकाल में रचे गए प्रबंध काव्य का ढाँचा लगातार बदलता रहा है। उसमें नए–नए प्रसंगों की उद्‌भावना होती रही है। कई कवियों द्वारा कई प्रसंगों की उद्‌भावना एक–साथ प्रबंध योजना में ही संभव हो सकती है। प्रबंध काव्य रचने का दूसरा सबसे बड़ा कारण था–चारणों द्वारा किया गया अतिरंजनापूर्ण वर्णन। किसी भी काव्य –कृति में कथानक को अतिरंजनापूर्ण बनाने के लिए उसमें प्रसंगों की विविधता आवश्यक हो जाती है। प्रसंग की विविधता के क्रम में कथानक में फैलाव आता जाता है, जिसे मुक्तक में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। रासो काव्य के प्रबंधत्व में लोक–तत्व और कथानक रूढ़ियों का समावेश भी मिलता है।

4.7 रासो साहित्य में वीर गीत

रासो काव्य दो रूपों में मिलता है – प्रबंध काव्य और वीर गीत के रूप में। प्रबंध काव्य की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। वीर गीत मौखिक और लिखित, दोनों रूपों में प्राप्त होते हैं। मौखिक रूप में 'परमाल रासो' तथा लिखित रूप में 'बीसलदेव रासो' जैसी रचनाएँ मिलती हैं। 'बीसलदेव रासो' में श्रृंगारिक मनोभाव का वर्णन है। इस काव्य–कृति में भोज परमार की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव तृतीय के विवाह, वियोग एवं पुनर्मिलन की कथा को सरस शैली में प्रस्तुत किया गया है। 'बीसलदेव रासो', 'संदेशरासक' की तरह संदेश परंपरा का काव्य है। 'बीसलदेव रासो' में नारी जीवन की करुणा गीतात्मक अनुभूति में प्रकट हुई है। यह काव्य–कृति अपने सरल एवं निष्कपट भाव सौंदर्य के कारण महत्वपूर्ण है। इसमें नारी जीवन के सुख–दुख, माधुर्य एवं करुणा तथा अश्रु और हास का भावपूर्ण चित्रण

मिलता है। काव्य के ये भावपूर्ण चित्र लयात्मक अनुभूति के रूप में प्रकट हुए हैं। भाव–व्यंजना तथा ध्वनि सौंदर्य की दृष्टि से बीसलदेव रासो महत्वपूर्ण काव्य है।

> परणब चाल्यो बीसलराय। चउरास्या सहु लिया बोलाई।
> जान तणी साजति कलउ। जीरह रँगावाली पहरज्यो टोप।।

जगनिक का परमाल रासो लोकगीत के रूप में देश के विभिन्न भागों में प्रसिद्ध है। यह लोक गीत आल्हा के नाम से उत्तर भारत के विविध क्षेत्रों में गाया जाता है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने लिखा है – 'इस प्रकार साहित्यिक रूप न रहने पर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ कालयात्रा में उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है।' वस्तुतः आल्हा लोकगाथा और लोकगीत है। लोकगीत स्वतःस्फूर्त काव्य का अंग होता है। लोकगीतों में उनके रचयिता अथवा रचनाकाल का प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं होता, उसका महत्व तो उसके सरल सौंदर्य में होता है। उसमें एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोक हृदय की अनुभूति ही प्रधान होती है। ये गीत व्यक्ति–विशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न होकर समुदाय की भावना के सच्चे प्रतीक होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लाँघकर, लोक गायकों के अधरों पर जीवित रहने वाले ये लोकगीत वर्तमान में भी जीवित हैं। समय के व्यवधान से उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य हुए हैं परंतु मूल भाव सुरक्षित हैं। आल्हा की लोकगाथा में एक मुख्य कथा–सूत्र है। महोबा के राजा परमर्दिदेव पर पृथ्वीराज का आक्रमण होता है। आल्हा और ऊदल वीरतापूर्वक लड़कर जन्मभूमि के लिए प्राण अर्पित कर देते हैं। इसी मुख्य कथासूत्र का विकास क्रमशः स्थल–स्थल पर अनेक पात्रों और धाराओं के योग से होता है। आल्हा की प्रवाहमयी शैली में स्वतःस्फूर्त गीत फूट पड़ते हैं :

> बाहर बरस लै कूकर जीवै अरु तेरह लै जियै सियार।
> बरस अठारह क्षत्री जीवै आगे जीवन कौ धिक्कार।।

4.8 रासो काव्य में अभिव्यक्ति कौशल

भाषा, अभिव्यक्ति कौशल का प्राथमिक उपादान है। भाषा में ही काव्य की रचना होती है। आदिकालीन साहित्य के रासो काव्य में भाषा के मानक रूप का परिचय नहीं मिलता है। भाषा के इस मानक रूप के विकास को अवरुद्ध करने में सामंती व्यवस्था की बहुत बड़ी भूमिका है। रासो काव्य वीरगाथात्मक काव्य है। वीरगाथात्मक काव्य का संबंध सामंतों के आपसी युद्धों से है। उन युद्धों के बिना वीर रस की कल्पना नहीं की जा सकती है, परंतु यह वीर रस भाषा के विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ। वीरता के भाव ने सामंतों में आपसी प्रतिद्वंद्विता को जन्म दिया। राज्य के छोटे–छोटे हिस्सों पर अलग–अलग सामंतों का शासन था। राज्य के इन छोटे–छोटे हिस्सों के बीच संचार और सम्प्रेषण का कोई सामान्य साधन उपलब्ध नहीं था। राज्यों के आपस में वैर–भाव के कारण न मंडियाँ आबाद हो सकीं और न व्यापारिक संबंधों का ही विकास हो सका। इस कारण भाषा में किसी सामान्य नियम का विकास नहीं हो पाया। उनमें किसी प्रकार की भाषायी मानकता का अभाव मिलता है। रासो साहित्य की भाषा स्थानीय बोलचाल की भाषा है, जिस पर अपभ्रंश का प्रभाव भी देखा जा सकता है।

रासो काव्य के लिए मुख्यतः दो प्रकार की भाषा प्रचलित हो चुकी थी। यह भाषा डिंगल और पिंगल नाम से पहचानी जाती है। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था वह डिंगल कहलाता था। डिंगल भाषा को कई विद्वान गँवारों की भाषा मानते हैं। वस्तुतः डिंगल भाषा में कर्कश वर्णों का प्रयोग प्रचुरता से होता है। डिंगल भाषा की

ध्वन्यात्मकता से युद्ध के वातावरण का सजीव चित्र उपस्थित किया जा सकता था, इसलिए इस भाषा का व्यापक प्रसार रासो साहित्य में देखने को मिलता है। युद्ध वर्णन की मुख्य भाषा डिंगल भाषा ही थी। पृथ्वीराज रासो में भी युद्ध के वर्णन में डिंगल भाषा का प्रयोग हुआ है :

> बज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहूँ दिसि।
> सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि।
> उट्ठि राज प्रथिराज, बाग लग्ग मनहु वीर नर।
> कढ़त तेग मन बेग लगत मनहु बीजु झट्ट थट्ट।।

'बीसलदेव रासो' से यह सूचना मिलती है कि मध्यदेश की भाषाओं के सहयोग से पिंगल भाषा प्रचलित हो रही थी। प्रादेशिक बोलियों के साथ–साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में पिंगल भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। पिंगल भाषा को डिंगल की अपेक्षा अधिक परिष्कृत माना जाता था। पिंगल में कोमल भावों को अभिव्यक्त किया जाता था। डिंगल और पिंगल विशेष प्रकार के भाव और भाषा की शैली थी। रासो काव्य की भाषा में दूसरी महत्वपूर्ण बात उभरती है, मिश्रित शब्दावली का प्रयोग। मिश्रित शब्दावली से तात्पर्य है तत्सम–तद्भव और देशज शब्दावली के साथ–साथ विदेशी शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग। 'बीसलदेव रासो' में अरबी और फारसी के सैकड़ों शब्द मिलते हैं। भाषा के स्तर पर यह मिश्रण इस बात को सूचित करता है कि भाषा में सामाजिक संस्कृति का विकास हो रहा था।

प्रत्येक साहित्यिक कालखंड अपना छंद स्वयं रचता है। छंद का निर्माण युग के द्वारा होता है और इसीलिए युग बदलने के साथ छंद भी परिवर्तित हो जाते हैं। रासो काव्य में कुछ छंदों का प्रयोग रासो युग की खोज है और कुछ छंद उसे अपभ्रंश काव्य से प्राप्त हुए हैं। छंदों की जितनी अधिक विविधिता रासो काव्य में मिलती है उतनी किसी दूसरी साहित्यिक धारा में प्राप्त नहीं होती है। कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा, आर्या और आल्हा आदि अनेक प्रकार के छंद रासो काव्य में प्रयुक्त हुए हैं। दूहा, रोला, उल्लाला, छप्पय, और कुण्डलिया अपभ्रंश भाषा के प्रचलित छंद हैं। पृथ्वीराज रासो में अपभ्रंश भाषा का प्रभाव गहरा है। इसलिए अपभ्रंश भाषा के छंदों का प्रयोग भी काव्यकृति में दिखाई पड़ता है। पृथ्वीराज रासो में सर्वाधिक छप्पय छंद प्रयुक्त हुआ है।

> एक बान पहुमी नरेस कैपासह मुक्यौ।
> उर उप्पर थर हरयो बीर कष्यंतर चक्यौ।।
> वियौ बान संधान हन्यो सोमेसर नंदन।
> गाढ़ौ करि निग्रहयौ षनिव गड्यौ संभरि धन।।
> थल छोरि न जाइ अभागरौ गड्यौ गुन गहि अग्गरै।
> इम जपै चंदवरद्दिय कहा निघट्टै उन प्रलै।।

'परमाल रासो' लोकगान के लिए रचा गया था। परमाल रासो में आल्हा नामक छंद का आविष्कार किया गया। आल्हा छंद का प्रयोग किसी भी प्राचीन रचना में नहीं मिलता। आल्हा शैली में तुकांत शब्दों के प्रयोग से काव्य में संगीतात्मकता की सृष्टि की गई है। शब्दों में ध्वनि के सामंजस्य से काव्य में नाद सौंदर्य को रचा गया है तथा कविता में अभिव्यक्ति चित्रात्मक है।

4.9 लौकिक साहित्य

आदिकालीन साहित्य में धार्मिक साहित्य और चारणों की प्रशस्तिपरक रचनाओं से भिन्न दूसरे प्रकार के साहित्य की लोकधारा भी प्रवाहशील थी। साहित्य की यह लोकधारा ही वास्तविक अर्थ में देशभाषा काव्य थी जो हिंदी साहित्य के विकास के मूल में है। चारण साहित्य को जब से राजाश्रय प्राप्त हो गया, तब से उसमें भी शास्त्रीय रूढ़ियों जैसे अभिजात तत्व से रासो साहित्य आच्छादित हो गया, ऐसी परिस्थिति में साहित्य में नूतनता का प्रादुर्भाव लोक साहित्य द्वारा संभव हो सकता था। लौकिक साहित्य ने जीवन की रची–बसी विषय–वस्तु को अपने साहित्य का विषय बनाया इसलिए कविता या गद्य में अलंकरण न होकर जीवन की स्वाभाविक दशाओं का वर्णन है। लौकिक साहित्य के विभिन्न अंग केवल शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ही अध्ययन के विषय न होकर सांस्कृतिक अर्थात् मानव विज्ञान तथा समाजशास्त्र की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

हिंदी साहित्य के आदिकाल में मुलतान, राजस्थान, दिल्ली, अवध और मिथिला से लौकिक साहित्य प्राप्त हुए हैं। 'संदेश रासक' का कवि अद्दहमाण या अब्दुल रहमाण मुलतान का था, 'ढोला मारू रा दूहा' की रचना राजस्थान में हुई थी। अमीर खुसरों दिल्ली के आसपास के रहने वाले थे, 'उक्ति व्यक्तिप्रकरण' का रचनाकार अवध का रहने वाला था और विद्यापति तथा ज्योतिरीश्वर ठाकुर मिथिला के निवासी थे। रचनाकार के जन्म–स्थान बताने का उद्देश्य यह है कि रचनाकार की भाषा पर स्थानीयता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। इस रंग को पहचान कर हम उससे स्थानीय भाषा और संस्कृति को समझ सकते हैं।

4.9.1 संदेश रासक

'संदेश रासक' की रचना बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी में मूल स्थान (मुलतान) के आसपास हुई थी। 'संदेश रासक' की रचना अपभ्रंश भाषा में हुई थी, परंतु वह अपभ्रंश भाषा बोलचाल के अधिक नज़दीक थी। कवि अब्दुल रहमाण प्राकृत और अपभ्रंश की परंपरा के अच्छे जानकार थे, फिर भी वे अपनी रचना को बोलचाल की भाषा के अधिक नज़दीक रखने का प्रयत्न करते हैं। बोलचाल की भाषा से जुड़ी होने के कारण ही 'संदेश रासक' में लोक–संवेदना का सहज विस्तार मिल गया है। 'संदेश रासक' दूत काव्य है। दूत काव्य की परंपरा संस्कृत और प्राकृत में भी मिलती है और उसी काव्य–चेतना का प्रसार अपभ्रंश में भी मिलता है। 'मेघदूत' के पूर्व–मेघ और उत्तर–मेघ के समान 'संदेश रासक' तीन प्रक्रमों में विभाजित है। प्रथम प्रक्रम प्रस्तावना रूप में है, द्वितीय प्रक्रम में वास्तविक कथा का प्रारंभ होता है और तृतीय प्रक्रम में षड्ऋतु का वर्णन है।

'संदेश रासक' में मंगलाचरण, आत्म–परिचय, ग्रंथ लिखने के औचित्य, षड्ऋतु वर्णन तथा रूप वर्णन जैसी शास्त्रीय रूढ़ियों की कमी नहीं है, फिर भी उसमें नारी की करुणा का संदेश मार्मिक है। इस काव्य में लोक जीवन के सघन चित्र प्राप्त होते हैं। काव्य में शास्त्रीय रूढ़ि, काव्य की संरचना मात्र है, मूल संवेदना गहरे स्तर पर लोकानुभूतियों को स्पर्श करती है। काव्य की मूल कथा में विजय नगर की एक प्रोषितपतिका नायिका का वर्णन है, जिसका पति धनार्जन हेतु खंभात गया है। यह विरहिणी नायिका एक पथिक के माध्यम से अपनी विरहानुभूति का संदेश पति तक सम्प्रेषित करना चाहती है। नायिका के विरह में प्रकृति का पूर्ण सहयोग है, प्रकृति के विराट प्रांगण में विरह का उत्सव मनाया जाता है। प्रकृति वर्णन में कवि की दृष्टि जहाँ ग्राम्य जीवन की ओर गई है, वे स्थल काव्य में बड़े मार्मिक हो गए हैं। काव्य में प्रकृति का बाह्य वर्णन प्राकृतिक वर्णन मात्र न होकर विरहिणी नायिका के हृदय का चित्र हो गया है। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्म–वेदना की ही होती है।' प्रकृति और विरहिणी नायिका का इसी प्रकार का साम्य जायसी के पद्मावत् के नागमती वियोग खंड में मिलता है :

उत्तरायणि वड्ढिहि दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिउइउ।
दुच्चिय वड्ढहि जत्थ पिय,
इहु तीयउ विरहायणु होइयउ।।

अर्थात् उत्तरायण में दिन बड़े हो जाते हैं, दक्षिणायन में रातें बड़ी हो जाती हैं और दिन छोटे हो जाते हैं। अब मेरे लिए दोनों दिन भी और रातें भी बड़ी हो गईं – यह तीसरा विरहायण हो गया।

अब्दुल रहमाण ने नायिका की तीव्र विरहानुभूति को प्रभावकारी बनाने के लिए नाटकीय कौशल का सहारा लिया है। थोड़ा संदेश सुनकर पथिक ज्यों ही चलने को होता है, नायिका नया प्रसंग छेड़ देती है। आज के सामाजिक जीवन में टूटते मानवीय संबंध की तुलना जब 'संदेश रासक' के सहृदय पथिक की सहानुभूति से करते हैं तब हम पाते हैं कि आज के युग में मानवीय भावों का कितना ह्रास हुआ है। मानवीय करुणा और सहानुभूति के शीतल स्पर्श के कारण इस कृति की सार्थकता आज भी बनी हुई है।

4.9.2 ढोला मारू रा दूहा

'ढोला मारू रा दूहा' की रचना ग्यारहवीं शताब्दी में पश्चिमी राजस्थान में हुई थी। यह अज्ञात है कि इस कृति की रचना किस रूप में हुई थी। कुशललाभ ने कृति में कुछ चौपाइयों को जोड़कर काव्य–कृति को सुगठित आधार दिया। 'ढोला मारू रा दूहा' की रचना लोककथा के आधार पर की गई थी। इस काव्य–कृति में कथानक इस प्रकार से बुना गया है कि कथा का मुख्य सूत्रधार राजकुमार ढोला ही प्रतीत होता है। राजकुमार ढोला दो विवाह करता है। उसका प्रथम विवाह मारवाणी से होता है। राजकुमार ढोला शीघ्र ही मालव प्रदेश की यात्रा करता है और वहाँ एक दूसरी लड़की पालवाणी से प्रेम करने लगता है। मारवाड़ प्रदेश में मारवाणी विरह व्यथा से त्रस्त है। मारवाणी अपनी आंतरिक वेदना का संदेश ढंढियों के माध्यम से राजकुमार ढोला तक पहुँचाती है। मारवाणी के संदेश में उसके हृदय की तीव्र अनुभूति व्यक्त होती है। वस्तुतः यह काव्य पुरुष की स्वेच्छाचारी मनोवृत्ति को उद्घाटित करता है और उसके साथ ही नारी जीवन की पराधीनता और विवशता की ओर भी ध्यान आकृष्ट करता है। चूँकि 'ढोला मारू रा दूहा' लोककथा है, इसलिए इसमें लोकजीवन और प्रकृति के आत्मीय रिश्तों को भी कृतिकार ने रेखांकित किया है। इस काव्य में नारी जीवन की आशाएँ, स्मृतियाँ तथा चिंताएँ ऋतु की संवेदनाओं के साथ जुड़ जाती हैं। मारवाणी के प्रेम वियोग में प्रकृति पूर्णतः सहयोगी बनकर उपस्थित होती है। हिंदी साहित्य में दोहा के विकास को समझने में 'ढोला मारू रा दूहा' का व्यापक महत्व है।

4.9.3 गद्य रचनाएँ

आदिकालीन हिंदी साहित्य में देश के विविध भागों में विविध प्रकार की गद्य रचनाएँ भी हो रही थीं। गद्य रचना में जीवन और समाज की वास्तविकता को प्रकट करने की शक्ति होती है। आदिकाल में जितने प्रकार की गद्य रचनाएँ मिलती हैं, उसमें कहीं न कहीं तत्कालीन जीवन की यथार्थताओं का वर्णन है। इस युग की गद्य कृतियों में दामोदर भट्ट रचित 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' (12वीं शताब्दी), ज्योतिरीश्वर ठाकुर की कृति, 'वर्ण रत्नाकर' (14वीं शताब्दी) तथा विद्यापति की 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' (14वीं शताब्दी) का नाम उल्लेखनीय है।

दामोदर भट्ट गहड़वार के प्रसिद्ध राजा गोविन्दचन्द्र के दरबारी साहित्यकार थे। गोविन्दचन्द्र के पुत्रों को शिक्षा देने के लिए इस कृति की रचना हुई थी। लोकभाषा की लोकरुचि से संस्कृत व्याकरण का आधारभूत ज्ञान किस प्रकार से प्राप्त किया जाए – इसका संकेत हमें 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' में मिलता है। 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' से इस बात का भी पता चलता है कि

साहित्य की रूढ़ भाषा से बोलचाल की भाषा बिल्कुल अलग थी। साहित्य की रूढ़ भाषा अपभ्रंश थी और बोलचाल में लोकभाषा तथा बोली प्रयुक्त होती थी। अवधी भाषा और संस्कृति को समझने में 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' का ऐतिहासिक महत्व है।

'वर्णरत्नाकर' डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी द्वारा संपादित हो कर प्रकाशित हो चुकी है। 'वर्णरत्नाकर' की भाषा मैथिली हिंदी है। 'वर्णरत्नाकर' कल्लोलों में विभाजित है। इस गद्य कृति में राज–दरबारों के कार्यकलापों का ब्योरेवार वर्णन मिलता है। 'वर्णरत्नाकर' में रीति ग्रंथों की तरह नायक–नायिका के गुणों, उनके प्रकारों की विवेचना मिलती है। इसमें वेश्याओं का वर्णन है और उनमें प्रचलित संगीत का वर्णन भी मिलता है। संपूर्ण रूप से देखें तो मैथिली भाषा और संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं को समझने में इस पुस्तक का विशिष्ट महत्व है।

4.9.4 विद्यापति

विद्यापति का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी था। उस काल की देशभाषा को अपभ्रंश में मिलाकर रचने की प्रवृत्ति प्रचलित थी। विद्यापति ने भी इन रूढ़ियों का पालन किया, परंतु उनके काव्य में देशभाषा का स्वतंत्र विकास भी देखने को मिलता है। अपभ्रंश मिश्रित लोकभाषा जिसे विद्यापति ने अवहट्ठ कहा है, तथा मिथलांचल प्रदेश में प्रचलित लोकभाषा मैथिली दोनों ही भाषाओं में विद्यापति ने रचना की। विद्यापति की स्पष्ट मान्यता थी –

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। ते तैंसन जपओं अवहट्ठा।

अर्थात् देशी भाषा सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश में कहता हूँ। विद्यापति दो भाषाओं को स्वीकार करते हुए भी देशभाषा को प्रमुख मानते हैं। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि वह कौन–सी ज़रूरत थी जिसके कारण विद्यापति को अवहट्ठ में रचना करनी पड़ रही थी। वस्तुतः राज–दरबार के अभिजात्य के बीच अपभ्रंश भाषा का प्रचलन था। विद्यापति राजाश्रय में रचना कर रहे थे। वे कीर्ति सिंह के दरबार में रहते थे। अतः उन्हें विवशतावश दरबार की भाषा को भी रचना के लिए अपनाना पड़ा। 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' उनकी इसी विवशता का प्रतिफल है। विद्यापति की भाषा में लोक–अनुभूति और लोक–अनुभव का आधार इतना गहरा था कि उससे उनकी अवहट्ठ रचनाएँ भी प्रभावित हुईं। उस अपभ्रंश की विशेषता यह है कि उसमें देशभाषा का कुछ अधिक प्रभाव है। यह प्रभाव शब्द के साथ–साथ लय और टोन में अभिव्यंजित होता है :

धारि आनय बाभन बरुआ। मथा चढ़ावउ गाय का चरुआ।
हिंदू बोले दूरहि निकार। छोटउ तुरुका भभकी मार।।

यह अपभ्रंश भाषा प्राकृत की रूढ़ियों में बंधी हुई प्रतीत नहीं होती। वस्तुतः विद्यापति के सामने कविता की दो धाराएँ थीं – एक प्राचीन मैथिली की और दूसरी उत्तरकालीन अवहट्ठ की। विद्यापति ने दोनों प्रकार की भाषाओं को मिलाकर एक नई शैली की उद्भावना की। आश्रयदाताओं की प्रशंसा के बावजूद मैथिल–कोकिल ने लोक–अनुभूति के मर्म से अपनी कविता को रचा। मिथिला का कोई पर्व–त्योहार, विवाह और अन्य लोकोत्सव मैथिल–कोकिल के गीत के बिना अधूरा माना जाता है। लोक–संवेदना में इतने गहरे स्तर तक हिंदी में किसी दूसरे कवि की पैठ नहीं मिलती। इसी अर्थ में डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्हें मध्यकालीन नवजागरण का अग्रदूत माना है। विद्यापति के विषय में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जाता है कि वे भक्त थे अथवा श्रृंगारी। इस विवाद को उनकी कविता के आधार पर ही विवेचित किया जा सकता है। विद्यापति के काव्य में मानवीय सौंदर्य का गहरा रंग है। उनके द्वारा रचे गए सौंदर्य के चित्र सघन हैं। राधा और कृष्ण के साथ शिव और पार्वती को भी विद्यापति ने मानवीय बनाकर प्रस्तुत किया है। विद्यापति का काव्य जहाँ जयदेव के श्रृंगारी काव्य से प्रभावित है, वहीं दूसरी

ओर उनपर कालिदास की स्वच्छंद अनुभूति का प्रभाव भी मिलता है। विद्यापति ने कृष्ण के अतिरिक्त, शिव को भी श्रृंगार रस का आलंबन बनाया है। कवि ने शिव और कृष्ण के मिथक का आश्रय इसलिए लिया है कि प्रेम जैसी अनुभूति का तन्मयता से वर्णन हो सके।

विद्यापति के श्रृंगार वर्णन की बहुत बड़ी विशेषता है कि उन्होंने अपने श्रृंगार वर्णन को सामंती श्रृंगार के सौंदर्य के उपभोग पक्ष से अलग रखा है। उनके श्रृंगारिक मनोभाव में लोकजीवन की सहजता है। उनके काव्य में किशोर और किशोरियों के प्रेम का सहज आकर्षण है, नवयौवन की चंचलता है और भावों की ऊहापोह है। वयःसंधि के प्रकरण में विद्यापति अद्वितीय हैं :

> सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
> स्रावन क पथ दुहु लोचन लेल
> निरजन उरज हेरइ कत वेरि
> हंसइ जे अपन पयोधर हेरि।

नवयौवन में किन मनःस्थितियों का विकास होता है, विद्यापति ने उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन किया था। इन मनःस्थितियों के बीच जो प्रतिक्रिया होती है उसका विशद वर्णन विद्यापति के साहित्य में मिलता है। विद्यापति के नायक और नायिका में बेचैनी है। उनका मनोभाव अशांत है, उसमें भावों की तरलता है और प्रिय से मिलने की आकांक्षा है। प्रेमानुभूति, यौवन और सौंदर्य के अतिरिक्त विद्यापति में सामान्य जीवन का चित्रण भी मिलता है। इनके कई पदों में मिथिला के गरीब लोगों का चित्र सामने आता है, जो अपनी हीन वित्तीय स्थिति के कारण अपनी आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं कर पाते थे। प्रोषितपतिका नायिका अपनी हीन वित्तीय स्थिति के कारण पथिक को विभिन्न भाव–भांगिमा के द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा करती है।

मिथिला में विद्यापति ने जिस तान को छेड़ा उसका प्रभाव मिथिला में ही सीमित न होकर असम, बंगाल, उड़ीसा तक जा पहुँचा। वस्तुतः मिथिला पूर्वी संस्कृति का केंद्र था। मिथिला में गीति काव्य और दर्शन की दो धाराएँ एक–साथ प्रवाहित हो रही थीं। विद्यापति का संबंध इन दोनों धाराओं से था। पूरब के लोग मिथिला में पढ़ने–लिखने और कार्य करने आते थे। जब वे अपने प्रदेश लौटते थे तो मिथिला के गीत और भजन भी लेते जाते थे। इसी तरह से विद्यापति की कविताओं का प्रसार असम, बंगाल और उड़ीसा में हुआ। मैथिल–कोकिल की लयात्मक चेतना और गीतात्मक संवेदना से संपूर्ण पूर्वी भारत आनंदित हो उठा :

> नंदक नंदन कदम्बक तरु तरे
> धीरे–धीरे मुरली बजाय
> समय संकेत निकेतन वैसल
> बेरि–बेरि बोलि पठाव।

4.9.5 अमीर खुसरो

अमीर खुसरो बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्हें विविध विधाओं में निपुणता हासिल थी। इतिहास, कविता, संगीत आदि विविध विषयों पर उन्होंने लेखनी चलाई। वे कई भाषाओं के जानकार थे। फारसी, उर्दू, ब्रजभाषा, खड़ीबोली तथा कई अन्य भाषाओं में वे समान अधिकार के साथ लिख सकते थे। खुसरो मिलनसार तथा खुशमिज़ाज़ स्वभाव के थे। उन्होंने जनता में प्रचलित पद्य, पहेलियों तथा मुकरियों को अपनाया। उनके दोहे तथा पहेलियों में एक खास प्रकार की तुकबंदी है। कहीं–कहीं तो उन्होंने फारसी भाषा और ब्रजभाषा की संगीतात्मक ध्वनि को एक–साथ पिरो दिया। दो भिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के छंद को एक – साथ मिलाने का असाधारण कार्य कोई दृष्टि – सम्पन्न अध्येता ही कर सकता है।

जे हाल मिसकी मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज्राँ न दारम ए जाँ! न लेहु काहें लगाय छतियाँ।
शबाने हिज्राँ दराज चूँ जुल्फ व रोजे वसलत चूँ उम्र को तह।
सखी! पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अंधेरी रतियाँ! ।।

खुसरों के काव्य में सामान्य भारतीय मनुष्य की सहजता है। अमीर खुसरों दरबार के फारसी पांडित्य से अलग लोकभाषा में जनता की अनुभूति को अभिव्यक्त करते हैं। उन्होंने जनता की भाषा को अपना बनाया था, इसलिए जनता भी उन्हें आज तक नहीं भूली है। मध्यदेश की भाषा खड़ी बोली और ब्रजभाषा के विकास को समझने में खुसरो की रचनाओं से काफी मदद मिलती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि काव्यभाषा का ढाँचा अधिकतम शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था। अतः जिन पश्चिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ी होती थी, उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा ब्रजभाषा की ओर झुकी रहती थी। अब भी यह बात पाई जाती है। इसी से खुसरो की हिंदी रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल की भाषा पहेलियों, मुकरियों और दो सुखनों में ही मिलती है—यद्यपि उनमें भी कहीं—कहीं ब्रजभाषा की झलक है। पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख प्रचलित काव्यभाषा ही है।' मध्यदेश के जनमानस में प्रचलित भाषा और जनता की सोच—समझ को जानने के लिए आदिकालीन हिंदी साहित्य में खुसरो का महत्व अतुलनीय है। अमीर खुसरो ने अनेक काव्यों को रचा, जिसमें ऐतिहासिक प्रेमाख्यान भी हैं। उन्होंने सभी काव्य—शैलियों का प्रयोग किया। उन्होंने एक नई फारसी शैली का निर्माण किया जो बाद में सबक—ए—हिंदी या भारतीय शैली कहलाई। खुसरो द्वारा रचित ग्रंथों की संख्या सौ बताई जाती है, जिनमें बीस—इक्कीस ही उपलब्ध हैं। 'खलिकबारी', 'पहेलियाँ', 'मुकरियाँ', 'दो सुखनें', 'गज़ल' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। खुसरो की मुकरियाँ और पहेलियाँ जनता के बीच अधिक लोकप्रिय हैं। अमीर खुसरों ने ब्रजभाषा में गीत और कव्वालियों को रचा, जो पीढ़ी दर पीढ़ी आज भी मौखिक रूप में प्रचलित हैं। उन्होंने ऐमान गोरा सनम जैसे अरबी और ईरानी रागों को हिंदी प्रदेशों में प्रचलित किया। सितार और तबले जैसे वाद्ययंत्र के निर्माण का श्रेय भी खुसरो को ही दिया जाता है। मध्यकाल में भारतीय जीवन में मिश्रित सांस्कृतिक प्रक्रिया का जो प्रारंभ हुआ, उसकी प्रतिच्छाया को खुसरो की रचनाओं में देखा जा सकता है।

4.9.6 दक्खिनी हिंदी

दक्खिनी हिंदी के संदर्भ में बहुत संक्षिप्त चर्चा की संभावना है। उत्तरी भारत में खड़ी बोली की कविता की शुरुआत खुसरों की रचनाओं से ही मानी जाती है, परंतु दक्षिणी भारत में सूफ़ी मत के प्रचार के साथ खड़ी बोली हिंदी के दक्खिनी रूप का विकास प्रारंभ होता है। दक्खिनी हिंदी का विकास उर्दू के प्रभाव में हो रहा था। जिस प्रकार की भाषा में दक्षिण भारत में बंदानेवाज, शाँहशीराँजी तथा सबरस रचना कर रहे थे। उनकी रचना तथा उत्तरी भारत की खड़ी बोली की रचनाओं में फर्क मात्र लिपि के स्तर पर था। उन्होंने अरबी लिपि में काव्य रचना को प्रस्तुत किया। बंदानेवाज़ की काव्य—कृति 'चक्कीनामा' तथा शाहशीराँजी की काव्य—कृति 'खुशनामा' को हिंदी की ही रचना स्वीकार करना चाहिए।

4.10 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप चारण साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों को समझ गए होंगे। चारण साहित्य की प्रशस्तिपरक रचना तथा लोककाव्य के बीच के सूक्ष्म भेदों की चर्चा भी हमने इस इकाई में की। प्रशस्तिपरक साहित्य का स्थायी भाव युद्ध और प्रेम ही क्यों था इस

बात को भी आप भली–भाँति समझ गए होंगे। मुलतान से लेकर मिथिला तक किस प्रकार से देशभाषा में साहित्य रचना की शुरुआत हुई तथा लोकभाषा और अपभ्रंश भाषा के द्वंद्वात्मक रिश्तों के बीच किस प्रकार कवियों ने देशभाषा को प्रतिष्ठित करने में अपनी भूमिका निबाही इसका अध्ययन भी आपने किया। लौकिक साहित्य के अध्ययन में आपको यह भी पता चल गया होगा कि संस्कृति की विषय-वस्तु, भाषा, छंद का कितना अटूट संबंध होता है।

4.11 अभ्यास प्रश्न

1. रासो काव्य की पृष्ठभूमि का विवेचन कीजिए।

2. आदिकालीन लौकिक साहित्य पर एक निबंध लिखिए।

3. आदिकालीन लौकिक साहित्य में अमीर खुसरों के योगदान की चर्चा कीजिए।

4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :

   1. संदेश रासक
   2. विद्यापति
   3. रासो साहित्य की प्रामाणिकता

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

1 हिन्दी साहित्य का आदिकाल – आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

2 हिन्दी साहित्य की भूमिका – आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी

3 हिन्दी साहित्य का इतिहास – सं. – डॉ. नगेन्द्र

4 हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग – डॉ. नामवर सिंह